वार्षिक मूल्य—

भारत में	९ रु०
विदेश में	१५ रु०
एक प्रति	२.५० रु०

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्य नैकः ।

अथेयं विश्वभारती । यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः । एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्य नैकः । विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते । प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः । द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः । एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः । सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते ।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिये इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिये किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिये अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार का पता :—

संपादक, विश्वभारती पत्रिका,

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

पौष-फाल्गुन २०२६] खण्ड १०, अंक ४ [जनवरी-मार्च १९७०

विषय-सूची

इस अंक के लेखक (अकारादि क्रम से)

आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, डीन, फैकल्टी आफ़ आर्ट्स्, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर।

कमला सांकृत्यायन, एम० ए०, पी-एच० डी०, राहुल संग्रहालय, दार्जिलिंग।

तपेश्वरनाथ प्रसाद, अध्यापक, हिन्दी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय।

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु', अध्यापक, आर० जे० डी० जे० कालेज, मुंगेर।

रवीन्द्र चौहान, सूचना-सहायक, भारत सरकार, जालन्धर।

विमलेश कान्ति, अध्यापक, इन्द्रप्रस्थ कालेज, दिल्ली।

शालिग्राम गुप्त, अध्यापक, हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन।

सत्यनारायण स्वामी।

रवि-बाउल — शिल्पी—नन्दलाल बसु

विश्वभारती पत्रिका

पौष-फाल्गुन २०२६ | खण्ड १०, अंक ४ | जनवरी-मार्च, १९७०

अवसान होलो राति।
निवाइया फेलो कालिमामलिन
घरेर कोणेर बाति
निखिलेर आलो पुर्व्व आकाशे
ज्वलिल पुण्यदिने—
एक पथे यारा चलिबे ताहारा
सकलेरे निक चिने।

१९३२ ई०] —*रवीन्द्रनाथ ठाकुर*

(हिन्दी छाया)

रात बीत चुकी है
अपने कालिमा से मलिन कोनों की
सभी बत्तियों को बुझा दो।
पूर्व आकाश में
महान् प्रभात सबके लिए उदित हो रहा है
उसका प्रकाश उन सबको आलोकित करे
जो एक पथ के पथिक हैं।

मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाओं का अध्ययन

आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

यह पहला अवसर है कि मैं बिहार रिसर्च सोसाइटी के सदस्यों से भेंट कर रहा हूँ । किन्तु, पिछले अनेक वर्षों से, मैं अनुभव करता हूँ, मैं उनसे संभाषण करता रहा हूँ, क्योंकि अनेक वर्षों से सोसाइटी के जर्नल का मैं उपयोग करता रहा हूँ । उसमें प्रकाशित विद्वतापूर्ण लेखों से मैंने बहुत कुछ सीखा है । प्राच्यविद्या से सम्बन्धित हमारे देश के उन थोड़े से पत्रों में से वह एक है जिन्होंने भारतीय विद्या की प्रगति पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है । अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने अपने विचारपूर्ण लेख उसमें दिए हैं । उसकी चालीस से अधिक जिल्दों में प्रकाशित लेखों की सूची बहुत उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करती है । चूँकि मैं इस पत्र से बहुत लाभान्वित हुआ हूँ अत. मंत्री महोदय के निमंत्रण को मैं अस्वीकार नहीं कर सका ।

बिहार मुझको प्रायः आकर्षित करता है, इसका एक विशेष कारण है । बिहार सरकार ने तीन संस्थाओं की स्थापना की है—दरभगा में, दूसरी नालन्दा में और तीसरी वैशाली में, और ये क्रमश सस्कृत, पाली और प्राकृत के उच्च अध्ययन से सम्बन्धित हैं । सरकार के परामर्शदाताओं ने अपनी कल्पना और दूरदर्शिता का परिचय ही नहीं दिया है किन्तु हमारे देश की महान् भाषा विषयक परम्पराओं को सही रूप में देखा है । यही तीन प्राचीन भाषाएँ हैं जिनके माध्यम से प्राचीन भारतीय विचारसरणियाँ, सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ और भाषा विषयक विकास शतियों तक प्रवाहित होता रहा है । और इन तीन भाषाओं में उपलब्ध साहित्य का जब तक तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन नहीं किया जाता तब तक हमें अपने साहित्य और सांस्कृतिक परम्परा के सही स्वरूप का परिचय नहीं मिल सकता ।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बिहार देश के उन थोड़े से भागों में से है जिनके पास सही चिंतन, उचित आचार और महान् नैतिक मूल्यों को अपनाने की समृद्ध परम्परा रही है । यहीं महावीर और बुद्ध ने ईस्वी पूर्व छठवीं शती में लोगों को उनकी अपनी भाषा में सदाचरण का उपदेश दिया था । इसे हमारे देश का महानतम भाषा आन्दोलन कहा जा सकता है । नैतिकता से सम्बन्धित उपदेशों को यदि सामान्य व्यक्तियों तक पहुँचाना है तो वे केवल जनता की भाषा के माध्यम से ही सुगम हो सकते हैं , और जब महावीर और बुद्ध पूरे समाज का नैतिक एवं धार्मिक

---

१. बिहार रिसर्च सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशन (१९६८) पर मुख्य अतिथि के रूप में दिए गए भाषण का रूपान्तर ।

दृष्टि से उद्धार करना चाहते थे तो जनता की भाषा के माध्यम से उपदेश देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था।

प्राचीन भारत में राजतंत्र-शासन-पद्धति प्रचलित थी, भले ही वह निरंकुश या उदार रही हो। बिहार में गणराज्य का प्रयोग किया गया था और वह आगे की पीढ़ियों के लिए महान् संदेश छोड़ गया है। राजतंत्र में राजा कुछ चुने हुए लोगों के परामर्श से राज्य चलाते हैं तथा न्याय करते हैं, जब कि गणराज्य में शासकीय नीति का निर्माण करने में जनता का स्थान सर्वोच्च रहता है। जब सामान्य जनता की राय जानना आवश्यक होता है तो प्रशासन का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह जनता की बात उसकी अपनी भाषा में सुने और उसकी भाषा में आदेश भी जारी करे। इस प्रकार गणराज्य पद्धति में सामान्य जनता की भाषा महान् महत्व प्राप्त करती है।

यही स्थान है जहाँ अशोक ने अपने उपदेशों का प्रारूप प्राकृत में तैयार किया था और उसे अपने साम्राज्य की सीमाओं की ओर भेजा था जहाँ उन्हें किंचित् परिवर्तित करके पत्थरों पर खुदवाया गया था। ये शिलालेख आज भी नैतिक तथा भाषाविषयक मूल्यों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, सही मानव-सम्बन्धों की स्थापना के लिए आज भी वे हमारा पथ प्रदर्शन करते हैं। इसी प्रकार, यहाँ से थोड़ी दूर उदयगिरि-खण्डगिरि में खारवेल का स्मरणीय शिलालेख है जिसके पढ़ने में बिहार के प्रसिद्ध विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

सन् १९४० ई० में तिरुपति में हुए दशम अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन की भाषा-शास्त्रीय शाखा के सभापति पदसे 'भारत में भाषाशास्त्रीय अध्ययन की स्थिति' पर भाषण देते हुए स्व० डॉ० वी० एस० सुक्थंकर ने कहा था, "मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं और बोलियों के सम्बन्ध में हमारा आश्चर्यजनक अज्ञान और इसके विपरीत उनके पूर्वतर युग के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी निस्संदेह उस अनुचित वितृष्णा का परिणाम है जो प्राय: भारत में ही नहीं, अपितु पूरे संसार में उच्चस्तरीय भाषा-भाषियों के द्वारा प्रान्तीय स्तरीय तथा उपस्तरीय प्रकार की बोलियों के लिए अनुभव की जाती है और कभी-कभी जिसे स्पष्ट रूप से व्यक्त भी किया गया है।" (भारतीय विद्या २, पृ० २५, बम्बई, १९४०)। अपने देश की भाषाशास्त्रीय और सांस्कृतिक सम्पत्ति का सही मूल्यांकन करने के लिए संस्कृत, प्राकृत और पाली का सुसंतुलित और भलीभाँति संगठित अध्ययन नितान्त आवश्यक है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के अध्ययन की दिशा में पर्याप्त कार्य हो रहा है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा के क्षेत्र में, विशेष रूप से पाली में, हमारे योरोपीय सहयोगियों द्वारा कुछ उल्लेखनीय कार्य हुआ है; किन्तु प्राकृत के क्षेत्र में खेदजनक उपेक्षा दिखती है, जिसका डॉ० सुक्थंकर ने उचित उल्लेख किया है। यह उपेक्षा ज्ञान की दो महत्वपूर्ण शाखाओं में

दिखती है— सांस्कृतिक और भाषा विषयक। प्रथम, प्राकृत और अपभ्रंश का विशाल साहित्य उपलब्ध है, जिसकी रचना संस्कृत के साथ ही हुई है और इस प्रकार संस्कृत में प्राप्त सांस्कृतिक सामग्री को पूर्ण करता है। द्वितीय, प्राकृत में और विशेषकर के अपभ्रंश कृतियों में इतनी भाषा-विषयक सामग्री उपलब्ध है कि उसके अध्ययन के बिना हम आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास को भलीभाँति नहीं समझ सकते।

बाण के समान हमारे प्रसिद्ध लेखकों ने बृहत्कथा, गाथासप्तशती, सेतुबन्ध जैसी कृतियों की उच्छ्वसित प्रशंसा की है। वास्तव में इन तीन प्राकृत कृतियों का प्राचीन संस्कृत साहित्य की धारा और प्रवृत्तियों पर बहुत प्रभाव पड़ा है। किन्तु, प्राकृत साहित्य की हमारी उपेक्षा के कारण मूल बृहत्कथा खो गई। इस कृति के सम्पूर्ण भारतीय विचारधारा पर पड़े प्रभाव का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उसके रूपान्तर संस्कृत में ही नहीं मिलते, किन्तु तमिल तथा दक्षिण की अन्य भाषाओं में भी मिलते हैं। इस प्रकार की अन्य कई हानियाँ हुई हैं, मैं यहाँ केवल कुछ का उल्लेख करूँगा : दृष्टिवाद, भद्रबाहु का वसुदेव-चरिय, पादलिप्त की तरंगवती, अपराजित की मियंकलेखाकथा, सर्वसेन का हरिविजय, वाक्पति का महुमहविजय, आनन्दवर्धन का विषमबाणलीला, मार्कण्डेय का विलासवती सट्टक, विश्वनाथ का कुवलयाश्वचरित, धर्मसूरि का हंससन्देश इत्यादि। वास्तव में प्राकृत का सही अर्थ क्या है, इस सम्बन्ध में बहुत भ्रान्ति या सही अर्थ की जानकारी का अभाव है। इस प्रसग में, मैं डॉ॰ प॰ ल॰ वैद्य के कथन को उद्धृत करता हूँ जो उन्होंने 'प्राकृत अध्ययन गोष्ठी' का उद्घाटन करते हुए कहा था, "प्राकृत भारतीय जनता की सबसे पुरानी और स्वाभाविक भाषा है, बचपन से उसे सभी बोलते हैं, उसीसे संस्कृत, जो सस्कृत वर्ग की परिष्कृत भाषा है, विकसित हुई है।" इस कथन की पुष्टि पतञ्जलि, भर्तृहरि तथा अन्य प्रसिद्ध वैयाकरणों के विवेचन से होती है। नमिसाधु के कथन तथा आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों की शोधों से इसकी पुष्टि होती है। वैदिक भाषा के आलोचनात्मक विश्लेषण से उसके भीतर प्राकृत के चिह्न विद्यमान मिलते हैं जैसा गेल्डनर, पीशेल तथा अन्य विद्वानों ने संकेत किया है। प्राकृत, अपभ्रंश और देशी शब्दों का विभिन्न प्रसंगों में हमारे भाषाओं के इतिहास के विभिन्न कालों में भिन्न अर्थ मिलता है; अतएव प्रसंगानुकूल इनका सही अर्थ जानना आवश्यक है। किसी समस्या का सरल समाधान, यह आवश्यक नहीं है, कि सही हो, और प्रायः यह किसी जटिल समस्या का उचित समाधान ढूंढने की दिशा में हमारे मस्तिष्क की निष्क्रियता का द्योतक है। आपको यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि कन्नड और तेलगू भी प्राकृत कहलाती हैं। मराठी के एक प्रसिद्ध विद्वान आज भी मराठी को प्राकृत कहते हैं, यह सच है, हममें से कुछ ने कभी भी प्राकृत व्याकरण नहीं पढ़ा है अतः हमारी प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के क्षेत्र में प्राकृत के महत्व को नहीं समझते। तथ्य यह है जैसा कि डा॰ सुकथंकर ने ठीक ही संकेत

किया है कि सामान्य जनता की इन भाषाओं की उपेक्षा की गई और सुसंस्कृत वर्ग की परिनिष्ठित भाषाओं पर विशेष ध्यान दिया गया।

भारत में भाषाओं के इतिहास में सौभाग्य से सामान्य जनता की भाषाएँ सर्वदा अपेक्षित नहीं रह सकीं। ईस्वी पूर्व छठी और पाँचवीं शती में बुद्ध के ज्येष्ठ समकालीन महावीर ने अपने उपदेश प्राकृत की एक बोली अर्धमागधी में दिए। बुद्ध ने भी, हम कल्पना कर सकते हैं, अपने उपदेश प्राकृत की एक बोली मागधी में दिए। ये दोनों ही बोलियाँ वर्तमान बिहार के एक भूभाग से सम्बन्ध रखती थीं। वास्तव में बुद्ध ने एक पग और आगे बढ़कर अपने शिष्यों से उपदेश अपनी-अपनी मातृभाषाओं में समझाने का अनुरोध किया (सकाय निरुत्तिया)। कालान्तर में इन बोलियों में अवश्य कुछ परिवर्तन हुए होंगे जैसा कि हमें पीछे की प्राकृतों में दृष्टिगोचर होता है। अशोक, खारवेल और सातवहन ने अपने शिलालेखों के लिए प्राकृतों को अपनाया। वैयाकरणों ने प्राकृत के अनेक भेदों का उल्लेख किया है। इनमें से अधिकांश बोलियों का क्षेत्रीय आधार था, किन्तु, जैसे-जैसे समय बीतता गया, संस्कृत के समान ये भी स्तरीय साहित्यिक भाषाएँ हो गईं। लोगों की बोलियों में विभिन्न भागों में परिवर्तन होता गया। ईस्वी सन् की पाँचवीं शती तक आते आते, यदि हम सेतुबन्ध जैसे काव्यों पर विचार करें, प्राकृतें संस्कृत के समान परिनिष्ठित रूप ग्रहण कर चुकी थीं, और स्पष्ट ही जनता की बोलियों से बहुत दूर चली गई थीं। इसी समय के लगभग प्रसिद्ध कवियों ने फिर जनता द्वारा बोली जानेवाली बोलियों को अपनाया, और हमें प्राकृत की बोली अपभ्रंश का परिचय मिलता है। ये साथ-साथ प्रयुक्त हो रही थीं। इस प्रकार हमारे कुछ प्रसिद्ध कवियों ने अपनी रचनाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में रचीं। पाली का विकास कुछ भिन्न रूप में हुआ, उसकी स्थिति थोड़ी भिन्न है। पाली, यद्यपि मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषा है, तथापि वह बहुत पहले अकेली पड़ गई और भारत की अपेक्षा बाहर ही अधिक विकसित हुई। स्वभावत. आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास से पाली का उतना सम्बन्ध नहीं रहा जितना प्राकृत और अपभ्रंश का।

प्राकृत साहित्य का क्षेत्र विशाल और विविधतापूर्ण है। हमारे देश के प्राचीनतम शिलालेख सभी प्राकृत में हैं। अश्वघोष और भास के समय से लेकर प्रायः प्रत्येक तथाकथित संस्कृत नाटक में बहुत बड़ा अंश प्राकृतों में मिलता है। यद्यपि ये प्रयोग रूढ़ि बन गए हैं, तथापि यह अवश्य ही प्रतिबिंबित होता है कि प्राकृतें सामान्य जनता की बोलियाँ थीं। विशेषज्ञ अब इस मत से सहमत हो गये हैं कि विक्रमोर्वशीयं में राजा के मुख से जो अपभ्रंश पद्य कहलाए गए हैं, वे कालिदास की रचनाएँ हैं। कालिदास ने अपने सभी नाटकों में प्राकृतों का प्रयोग किया है। जहाँ तक विविध प्राकृतों के प्रयोग का सम्बन्ध है मृच्छकटिक सबसे समृद्ध नाटक है। पहले

केवल एक सट्टक अर्थात् राजशेखर कृत कर्पूरमंजरी का ही हमें पता था, अब लगभग आधे दर्जन केवल प्राकृत में लिखे नाटकों का पता लग चुका है।

प्राकृत कदाचित् मुक्तक काव्य का सर्वोत्तम माध्यम रही है, हाल का कोष एक स्मरणीय संग्रह है जिससे सभी अलंकार शास्त्र के लेखकों ने पद्य चुने हैं। कालिदास भी इसके प्रभाव से बच नहीं सके (जर्नल, बिहार रिसर्च सोसाइटी जिल्द ५१, भाग २ पृ० २२९ और आगे, पटना १९५५)। गाथा प्रधानतः एक प्राकृत छन्द है जिस प्रकार श्लोक संस्कृत का और दोहा अपभ्रंश का। गाथा सस्कृत में आर्या के रूप में प्रचलित था। अपभ्रंश के कुछ छंद इतने आकर्षक थे कि सोमदेव और जयदेव जैसे लेखकों ने संस्कृत में भी उनका प्रयोग किया।

सेतुबन्ध, गौडवहो, लीलावई जैसे अलंकृत काव्य प्राकृत में उपलब्ध हैं, प्राय: इसी श्रेणी के अन्तर्गत पउमचरिय, वसुदेवहिण्डी, समराइच्चकहा, कुवलयमाला जैसी काव्यकृतियाँ हैं जिनका वर्ण्यविषय अधिक लोकप्रिय है तथा इनकी रूपरेखा धार्मिक है, ये कृतियाँ यद्यपि प्रकाशित हैं तथापि इनका पूरा अध्ययन नहीं हुआ है। प्राकृत साहित्य की एक अन्य शाखा है जिसका उल्लेख उसके परिमाण और विषय की विविधता की दृष्टि से आवश्यक है। जैनों का अर्धमागधी आगम साहित्य उतना ही महत्वपूर्ण है जितना बौद्धों का पाली में लिखा धार्मिक साहित्य। इसमें लगभग ४५ कृतियाँ हैं, जिनका आकार एक समान नहीं है, विषय की दृष्टि से ये समृद्ध हैं। उनके साथ ही षट्खण्डागम और कषायपाहुड का उल्लेख भी करना चाहिये, कृतियाँ जटिल कर्म सिद्धान्त के विवेचन के लिये महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त इनमें से कुछ से सम्बन्धित निर्युक्ति, चूर्णि आदि टीकाएँ हैं। इनमें से बहुत ही कम आलोचनात्मक ढग से सपादित होकर प्रकाशित हुई हैं, तथा बहुत थोड़ी कृतियों का अध्ययन हुआ है।

प्राकृत भाषा और साहित्य का सम्बन्ध भारत के बाहर के प्रदेशों से भी रहा है, और यह प्राकृत धम्मपद जैसी कृतियों से, तथा निय प्राकृत, गन्धार प्राकृत, और सिहल प्राकृत जैसे नामों से स्पष्ट है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्राकृत का एक महत्वपूर्ण भेद अपभ्रंश है जिसमें ईस्वीसन् की पाँचवी शती से लेकर मुगलकाल तक काव्य रचना होती रही, यह प्रेम काव्यों, रहस्यगीतों, चारण काव्यों, धर्मकथाओं और आख्यान काव्यों की रचना के लिये अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुई। यद्यपि कुछ विशेषज्ञों ने पहले जर्मनी में फिर भारत में इस क्षेत्र में कार्य किया तथापि यह देखा गया है कि हमारे प्राचीन भाषाओं के अध्यापक अध्ययन की इस शाखा से पूर्ण रूप से परिचित नहीं हैं। जोइन्दु के रहस्यवादी गीत कान्ह और सरह के गीतों के समान हैं, और उनका स्वर ब्रज के अनेक गीतों में सुनाई पड़ता है। अपने प्राकृत व्याकरण में हेमचन्द्र ने जो अपभ्रंश पद्य उद्धृत किए हैं

उनमें से कई आज भी राजस्थानी में परिवर्तित रूप में मिलते हैं। पुष्पदन्त और स्वयंभू आदि की विशाल कृतियाँ विषय की दृष्टि से ही महान् नहीं हैं किन्तु भाषा की दृष्टि से समृद्ध तथा शैली की दृष्टि से आकर्षक हैं। अपभ्रंश के अध्ययन के महत्व को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। अपभ्रंश में हमें हिन्दी, गुजराती, बिहारी, बंगाली तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के प्रारम्भिक रूपों का संगम स्थल मिलता है।

अब हम ब्लौक, चैटर्जी, सक्सेना, धीरेन्द्र वर्मा, दवे, काकाती जैसे विद्वानों के मराठी, बंगाली, अवधी, ब्रज, गुजराती, आसामी आदि पर लिखे विद्वतापूर्ण ग्रन्थों को पढ़ते हैं तो हमें प्राकृतों और अपभ्रंश की पृष्ठभूमि और अन्तःधारा इन सभी में दिखाई पड़ती है। उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि हम आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अपने अध्ययन को पूर्ण बनाना चाहते हैं तो हम प्राकृतों के अध्ययन की उपेक्षा नहीं कर सकते। इस प्रसंग में प्राकृत व्याकरण और शब्दकोश की परिधि सीमित रहते हुए भी, व्याकरणिक ढाँचे और शब्दावली की दृष्टि से मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाओं को आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से जोड़ने के लिये बहुत मूल्यवान् हैं।

यदि हम कुछ देर के लिए अलकृत गद्य और पद्य की उस शाखा को छोड़ दें जिसका प्रणयन पाणिनीय व्याकरण के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर हुआ है तो उसके अतिरिक्त भी संस्कृत के आख्यानकाव्यों, पुराणों, मध्ययुगीन कथा साहित्य के रूप में विशाल साहित्य उपलब्ध होता है। यदि इस साहित्य की शब्दावली और व्याकरणिक ढाँचे का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि प्राकृतों ने, जो जनसामान्य द्वारा बोली जानेवाली भाषा के सदा निकट रही हैं, किस प्रकार उनकी भाषा को प्रभावित किया है और संस्कृत की शब्दावली को मिथ्या साम्य के आधार पर निर्मित शब्दों द्वारा समृद्ध बनाया है। उदाहरण के लिये पंचतंत्र में प्राप्त मुत्कलापय शब्द संस्कृत के विद्यार्थी के लिये उलझी पहेली ही बना रहेगा, किन्तु यदि उसे प्राकृत का थोड़ा ज्ञान है तो वह तुरत उसके प्राकृत रूप के प्रयोग को समझ लेगा। मुझे स्मरण है कि जब यह उद्धरण एक बार मैट्रिक की परीक्षा के लिये निर्धारित संस्कृत पाठ्यक्रम में रखा गया था तो किस प्रकार पाणिनीय व्याकरण की सहायता से इस शब्द को समझाने का प्रयास किया गया था। (उसकी सही व्याख्या के लिये द्रष्टव्य—न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग १५ पृ० ३४२-३)।

लगभग सौ वर्ष पूर्व वेबर ने प्राकृत ग्रन्थों के संपादन के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण सुझाव दिये थे, और इस शती के आरम्भ में पीशेल ने प्राकृतों के एक अद्भुत व्याकरण की रचना जिसमें प्राकृतों के संपूर्ण भेदों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ब्लाक, ग्रियर्सन, मास्टर तथा अन्य विद्वानों की खोजों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषाओं का हमारा अध्ययन अधूरा ही रहेगा जब तक हमारे विश्वविद्यालयों में प्राकृतों के अध्ययन की उचित व्यवस्था नहीं होगी। संस्कृत

और प्राकृत हमारे अध्ययन में स्वतन्त्र रूप में नहीं रह सकते किन्तु वे वास्तव में एक दूसरे पर निर्भर करते हैं।

यह रोचक है, हास्यकर भले न हो, कि नाटकों में प्राप्त प्राकृत उद्धरण उनकी छाया के माध्यम से ही पढ़ाये जाते हैं, यह पद्धति अस्वाभाविक ही नहीं अपितु भ्रामक है। रचयिताओं ने प्राकृत में लिखा था, संस्कृत छाया के बिना हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हैं और यदि इन पद्यों की छाया ही पढ़ी जावे तो छंदो भंग हो जावेगा। मैं कुछ उदाहरण यह दिखाने के लिये दूँगा कि किस प्रकार उद्धरण गलत पढ़े जाते हैं और उनकी भूल व्याख्या की जाती है :

१—जब वसंतसेना कहती है संतं पावं तो स्पष्ट ही इसमें श्लेष है, किन्तु शकार इसे शंते-किलंते समझता है। इसी प्रकार जब भिक्षु कहता है—तुमं धण्णे तुमं पुण्णे, शकार उत्तर देता है कि हगे शलावके कोश्टके वा। शकार के इस उत्तर से स्पष्ट है कि उसने भिक्षु के कथन का अन्य अर्थ समझा। श्लेष की जो झलक इन उद्धरणों में विद्यमान है वह इसको सस्कृत में कर देने से कभी स्पष्ट नहीं होगी। दूसरे उद्धरण के सम्बन्ध में पृथ्वीधर मौन हैं, लल्लादीक्षित ने उसका अनर्थ ही कर डाला है। इन उद्धरणों पर मैंने अपने एक लेख में प्रकाश डाला है—इन्टरप्रिटेशन अब् पैसेजेज फ्रॉम मृच्छकटिक, सिद्धभारती (होसियारपुर, १९५०) में प्रकाशित।

२—एक अन्य स्पष्ट उदाहरण और है जिससे प्रकट होगा कि किस प्रकार गलत छाया ने बड़ी समस्या को रूप दिया जिस पर वर्षो तक विद्वानों द्वारा विचार चलता रहा। भास के चारुदत्त में अमृतांकम् गलत छाया के कारण एक मिथक बन गया। यह अमृदंगम् होना चाहिये था और उद्धरण का पूरा अर्थ बहुत सरल और सारगर्भित है (ज० ओ० ई०, १५-२ पृ० ११८-९, बड़ौदा १९६५। प्रसंग से संबंधित उद्धरण इस प्रकार हैं गणिका' हंजे पेक्ख, जागरंतीए मए सिविणो दिट्ठो एवं। चेटीः पिअं मे, अमुदक (ग) अ णा ड अ अं संवुत्तं)।

जब हम संस्कृत नाटकों के संस्करणों को देखते हैं, विशेष करके भारतीय विद्वानों द्वारा संपादित, तो हमें प्राकृति उद्धरण अशुद्ध छपे मिलते हैं, और संपादकों को यह ध्यान नहीं रहता कि वे मूल पाठ के प्रति कितना अन्याय कर रहे हैं। जहाँ तक प्राकृतों के संपादन का प्रश्न है हमारे विश्वविद्यालयों के भी प्रकाशन स्तर से नीचे के ठहरते हैं। अंग्रेजी के लिखने के विषय में हम इतने सावधान रहते हैं, संस्कृत बाधते के स्थान पर बाधति हमें अरुचिकर लगता है, किन्तु अलंकार ग्रन्थों में अशुद्ध छपे प्राकृत पद्य एक सामान्य बात है।

१८७० ई० में वेबर ने यह दिखाया कि हाल की गाथाओं का पाठ किस प्रकार प्रस्तुत किया जाना चाहिए ; आज भी उनका संस्करण हमारे लिये आदर्श है, किन्तु ऐसे उत्तम संस्करण के रहते हुए भी हाल की गाथाओं के पीछे के भारतीय संस्करणों में तथा अलंकार ग्रन्थों में उद्धृत किए

गाथाओं के पाठ शुद्ध नहीं हैं। यदि हमारे विद्वान महाभारत के आलोचनात्मक पाठ में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुँच सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि प्राकृत के ग्रंथों के पाठ अशुद्ध क्यों रहें। आवश्यकता है सच्ची विद्वता की, सुलझे हुए प्रशिक्षण की और परिश्रम करने की इच्छा की। कुसंपादित पाठ नाना समस्याएँ उत्पन्न करते हैं जिनपर पीछे विद्वानों का समय नष्ट होता है। अपभ्रंश की अनेक कृतियाँ प्रकाश में आचुकी हैं और उन पर काम करने के लिए परिश्रमी, विचक्षण बुद्धि विद्वता को वर्षों लगेंगे। हमारे योरोपीय सहयोगी भारत से हस्तलिखित पोथियों के फोटो ले जाते हैं और उनके आधार पर आदर्श पाठ प्रस्तुत कर देते हैं, हमारे लिए यह एक चुनौती है क्योंकि हमारे यहाँ बहुत हस्तलिखित ग्रंथ हैं।

वर्षों पूर्व विधुशेखर भट्टाचार्य तथा अन्य विद्वानों ने हमारे विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर संस्कृत विभागों द्वारा प्राकृत की उपेक्षा करने के संबंध में असंतोष प्रकट किया था (माडर्न रिव्यू, जनवरी १९५२)। किन्तु आज स्थिति और भी बिगड़ गई है यद्यपि आज अधिक सुविधाएँ हैं और प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिए उत्साह भी अधिक दिखता है।

आज हिन्दी के अध्ययन के लिए अधिक उमंग दिखती है। यह बहुत अच्छी बात है किन्तु मुझे लगता है कि मुझे यह बल देकर कहना चाहिए कि हिन्दी का विद्वान् ज्ञान की दृष्टि से सुसंपन्न नहीं होगा यदि उसने प्राकृत और अपभ्रंश पर अधिकार नहीं प्राप्त किया। मेरा कथन उनके लिए सार्थक होगा जो पद्मावत, पृथ्वीराजरासो जैसी कृतियों का अध्ययन करेंगे। जो हिन्दी के लिए सही है वही न्यूनाधिक रूप में गुजराती, मराठी आदि के लिए सही है। ये सभी भाषाएँ अपभ्रंश की गोद में पली हैं जिसमें समृद्ध साहित्य प्राप्त हैं, किन्तु बहुत कम आलोचनात्मक ढंग से प्रकाशित हुआ है और हम लोगों के भाषा के अध्ययन में उसका उपयोग बहुत कम होता है। पिशेल, ब्लॉक तथा अन्य विद्वानों द्वारा दिए गए उद्धरणों को रट लेना पर्याप्त नहीं है, अब समय आ गया है कि नई सामग्री और विस्तृत सूचना द्वारा हम पचीस वर्ष पहले के अपने ज्ञान को पूरा बनावें। दक्षिण भारत की कुछ भाषाओं के विकास में भी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, दक्षिण में ही प्राकृत के कुन्दकुन्द, नेमिचन्द्र, पुष्पदन्त जैसे महान् लेखक हुए।

इस प्रकार सामान्यतः पूरे भारत के हमारे भाषा के इतिहास में प्राकृतें रमी हुई हैं। प्राकृतों में समृद्ध साहित्य है, जिसकी रचना संस्कृत और पाली के साथ साथ होती रही। एक ओर संस्कृत के अध्ययन दूसरी ओर भाषाशास्त्र के अध्ययन के साथ यह आवश्यक है कि प्राकृतों के अध्ययन को हमारे विश्वविद्यालयों में उचित स्थान दिया जावे। वे अन्योन्याश्रित हैं। एक या दूसरे की उपेक्षा करने का अर्थ होगा हमारे विद्वता के स्तर को दूषित करना।

पारिजातहरण में अर्थ की समस्या : एक पर्यालोचन

तपेश्वरनाथ प्रसाद

उमापति कृत पारिजातहरण नाटक के विभिन्न संस्कर्ताओं में सर्वप्रथम डा० ग्रियर्सन ने अपने अंग्रेजी संस्करण[1] के साथ इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत कर अर्थ-दृष्टि से इसे अंग्रेजीदाँ पाठकों के लिए विशेष सुलभ कर दिया। कहना न होगा कि अपने मूल पाठ के साथ-साथ इस अनुवाद की साधुता और वैज्ञानिकता स्तुत्य है। इसके संस्कृत और मैथिली पदों का अंग्रेजी पद्यानुवाद जहाँ सम्पादक के संस्कृत, मैथिली और अंग्रेजी भाषा और साहित्य पर उसके रचनात्मक अधिकार का द्योतक है, वहाँ पदे-पदे पाद टिप्पणियों में की गयी पौराणिक, ललित और भाषा वैज्ञानिक सन्दर्भों की सुविस्तृत समीक्षा उनके प्राच्य विद्यानुराग की परिचायिका है। यद्यपि एकाध स्थल पर यहाँ भी अर्थगत त्रुटि दीख पड़ती है, किन्तु कुल मिलाकर यह अनुवाद अत्यन्त परिश्रमपूर्वक तैयार किया गया है। अत· यह विद्वान सम्पादक के पूर्ण मनोनिवेश का प्रतिफल है। इसकी सरसता और साधुता का ही परिणाम है कि परवर्ती टीकाकार भी इस ओर पूर्णतः आकृष्ट हुए और इसी से प्रेरणा लेकर उन्होंने अपने पाठानुवाद का महल खड़ा किया।

इसके दूसरे संस्कर्ता और हिन्दी में कदाचित् प्रथम अनुवादकर्ता श्री कृष्णनन्दन 'पीयूष'[2] हैं, जो डा० ग्रियर्सन के इस कार्य की संवर्द्धना करते हुए कहते हैं—'मैं व्यक्तिगत रूप से इस अनुवाद से अत्यन्त प्रभावित हूँ और उसका प्रमाण यही है कि प्रस्तुत संस्करण में मैंने जिस मूल पाठ को उपस्थित कर उसका हिन्दी अनुवाद प्रेषित (?) किया है, उसकी पृष्ठभूमि में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत किया गया मूल पाठ एवं उनका अंग्रेजी अनुवाद है।'[3]

ग्रियर्सन महोदय के पाठ और अर्थ से अविकल रूप में प्रभावित होने पर भी डा० पीयूष के (पाठ और) अर्थ-सम्बन्धी कुछ निजी बातें हैं जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। पीयूष-कृत गद्यानुवाद पारिजात हरण के हिन्दी संस्करण का एक मौलिक प्रयत्न है। दूसरे, ग्रियर्सन ने जहाँ संस्कृत और मैथिली पदों का अंग्रेजी पद्यानुवाद किया वहाँ पीयूष जी ने उक्त पदों का भी तथाकथित 'सुललित' गद्यानुवाद कर दिया है। स्वयं अनुवादक के ही शब्दों में—'गद्य की शैली में पद्य की धारा को अक्षुण्ण रखा गया है।' किन्तु, व्यवहार में उक्त स्थापना कितनी अक्षम है कदाचित्

---

१. द्रष्टव्य—ज० बि० ओ० रि० सो०—जिल्द ३, खण्ड १, मार्च १९१७, पृ० २०-९८

२. „ उमापति का पारिजातहरण—पाटली प्रकाशन, पटना—१९६०

३. „ „ „ „ परिवर्द्धित संस्करण, मई १९६७ (पृ० ५७)

इसी के निवारणार्थ उन्हें आगे यह भी कहना पड़ा—'यत्रतत्र अनुवाद में स्वतन्त्रता को भी अपनाने का प्रयत्न किया गया है।' हाँ, यह दूसरी बात है कि अनुवाद करते समय इस स्वतन्त्रता को अपनाने में ध्यान रखने पर भी 'मूल पाठ की मौलिकता' क्षतिग्रस्त कर दी गयी है। नतीजा—अर्थ का अनर्थ हो गया। उदाहरणार्थ 'रहिहह दाहिनी' का अर्थ दहाड़ता रहना', 'पियर बसन' का 'नीला वस्त्र', 'पीन पयोधर' का 'सूखा हुआ पयोधर' आदि पर्याप्त हैं। ये तो कुछेक बानगियाँ हैं। ऐसे ही अनर्थों से पारिजातहरण का यह प्रथम गद्यानुवाद आद्यन्त भरा है। और इसकी अर्थगत त्रुटि एक अरसे से इसके पाठकों और विचारकों के लिये हैरतअंगेज़, सनसनी खेज़ और हास्य-व्यंग्य का विषय रही है। इसी उमंग में मैथिली और हिन्दी में दो-एक छिटपुट निबन्ध भी लिखे गये जिनमें पारिजातहरण के इस संस्करण के पाठार्थ४ और मौलिकर्ता५ की छीछालेदारी की गई। आज जब कि पीयूषजी हमारे बीच नहीं रहे, इसकी चर्चा अनपेक्षित है। पर निष्पक्ष आलोचना तो निर्मम सत्य का निर्वचन करा ही लेती है।

इसके तीसरे अनुवादक संस्कर्ता हैं—डा० बजरंग वर्मा जिनकी इस कृति६ को अपने कर्त्ता के नाम के पूर्व अब विशिष्ट उपाधि (डाक्टर) लगवा देने का भी श्रेय प्राप्त हो चुका है। हिन्दी प्रकाशन जगत् में यह भी एक आश्चर्य ही माना जायगा कि जब किसी पुस्तक की पाण्डुलिपि १९५८ ई० में तैयार हो गई हो, प्रो० सुकुमार सेन ने उसकी भूमिका उसी वर्ष के अन्त तक और प्रसिद्ध भाषाविद् डा० सु० कु० चाटुर्ज्या ने १० जनवरी '६३ में लिख दी हो, उसका मुद्रण भी श्रावणी पूर्णिमा, २०२० वि० तक हो चुका हो और यहाँ तक कि पी-एच० डी० के शोध प्रबन्ध के रूप में '६७ ई० के प्रारम्भ में ही उसे पटना विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृति मिल चुकी हो, फिर भी '६९ ई० के मध्य तक भी पूर्णतः प्रकाशित न हो पाये। संक्षेप में, उदयाचल प्रकाशन, पटना से प्रकाश्य डा० बजरंग वर्मा के संस्करण की लोक व्यापकता का यही रहस्य है। यदि इस संस्करण के संस्कर्ता की 'अपनी ओर से' कही गयी बात फिर कह दी जाय तो मुमकिन है कि वैसे लोगों का जो तिथि देखकर ही रचनाओं का पौर्वापर्य-निर्णय कर लेते हैं—अवश्य कल्याण हो। तदनुसार—"प्रस्तुत पुस्तक जब लिखी गई थी, तब हिन्दी संसार में इस विषय पर कोई दूसरी पुस्तक न थी। किन्तु

---

४. द्रष्टव्य—'हिन्दी लेखकक हाथें मैथिलीक दुर्गति'—मिथिला मिहिर, ८ अगस्त'६५—प्रो० विश्वेश्वर मिश्र।

५. द्रष्टव्य—'उमापति का पारिजातहरण और पीयूषजी'—प्रो० खगेन्द्र ठाकुर (अप्रकाशित)

६. „ —'उमापति उपाध्याय और नव पारिजात मंगल—उदयाचल, आर्य कुमार पथ, पटना-४, वर्ष संदिग्ध।

७. द्रष्टव्य—वही—पृ० (रोमन-९,४ और १४ क्रमशः)।

इसके छपते-छपते इस विषय पर एक पुस्तक ('उमापति का पारिजातहरण'—प्रो० कु० न० पीयूष', मूल्य-३ रु० मात्र) हमारे सामने मुद्रित (?) होकर आ गयी। विद्वान लेखक द्वारा प्रस्तुत सामग्री का उपयोग मैं नहीं कर पाया इसका मुझे दुख है।"८ अतः पीयूष संस्करण और बजरंग-संस्करण को भली-भाँति उलट-पुलट लेने पर लेखक की निजी धारणा यही है कि दोनों में से किसी भी संस्कर्ता को एक दूसरे के संस्करण को देखने का सुअवसर नहीं मिला। एक दूसरे के गवेषणात्मक निबन्ध पत्रिकाओं में देखने को मिले अवश्य थे। हाँ, पाण्डुलिपि देखने का अवसर यदि किसी को मिल गया हो तो इसका रहस्योद्घाटन कठिन है।

जहाँ तक बजरंग-संस्करण के पाठ और अर्थ का प्रश्न है, यह निर्विवाद रूप से पहले की अपेक्षा अधिक सुचिन्तित, मौलिक, वैज्ञानिक और साधुतर है। इसका पाठ पाठान्तर-पुष्ट और मुद्रण दोष से मुक्त है। दाहिने पृष्ठ का गद्यानुवाद पदाश्रित और यथार्थ है। बीच बीच में विचारों की एकतानता और रचनागत अन्विति के लिये कोष्ठकावृत्त विकल्प आये हैं जिन्हें मिलाकर पढ़ने से अर्थगत दीप्ति और भी बढ़ जाती है। यह भी त्रुटियों से सर्वथा मुक्त हो, ऐसी बात नहीं। पर, जो भी हैं, वे या तो पाठान्तर जनित हैं या अर्थान्तर जनित, कुछ मैथिली-संस्कार च्युति के फलस्वरूप हैं तो कुछ यों ही अपवाद स्वरूप।

कहना न होगा कि प्रस्तुत निबन्ध की रचनात्मक पृष्ठभूमि में पीयूष-संस्करण के त्रुटि बाहुल्य से लेकर बजरंग-संस्करण का त्रुटि-राहित्य तक समाहित है।

इसके पूर्व हम पारिजातहरण के प्राप्त संस्करणों के आधार पर उसका पाठालोचन कर चुके हैं। अर्थालोचन-क्रम में सम्प्रति हमारे ध्यानाधीन इसके ३ निम्न अनूदित संस्करण हैं—

(क) ग्रियर्सन-संस्करण (अंग्रेजी) - पीयूष-संस्करण (परिवर्द्धित) में उद्धृत (पृ० १०४-१३२)।

(ख) पीयूष-संस्करण (हिन्दी)—परिवर्द्धित (पृ० १३७-१५९)

और (ग) बजरंग संस्करण (हिन्दी)—उदयाचल प्रकाशन (पृ० ५-६७)।

प्रारम्भ से अन्त तक के पाठों में जहाँ कहीं भी अर्थ-भ्रांति हुई है, उन चुने हुए सन्दर्भों को संस्करण निर्देश के साथ प्रस्तुत करते हुए उनका यथोचित समाधान भी दे दिया गया है।

: २ :

(१) धूसर नयन भसम मण्डिनि—मैथिली गीत-१, चरण-२

---

८. ,, —वही—पृ० (रोमन-१३)।

अर्थ—(क) वह जिसने लोचन धूम्र को भस्मीभूत कर दिया·· ९

(ख) तुम्हारे नयन धूम्र की तरह काले हैं, तुमने भस्म को रमाया है... १०

(ग) हे 'धूम्रलोचन' के भस्म से (अपना) शृंगार करने वाली ...११

उक्त पद्यांश देवी-वन्दना का है। देवी ने मधु से लेकर निशुम्भ तक जिन-जिन असुरों (मधु कैटभ , महिषासुर, धूम्रलोचन, चण्ड, मुण्ड, रक्तबीज, शुम्भ, निशुम्भ) का वध किया उन सबों का यहाँ उल्लेख हुआ है। इसी क्रम में ध्वस्त एक असुर यह 'धूम्रलोचन' भी है जिसके उत्तर पद (लोचन) को मात्रा शुद्धि के लिए कवि ने 'नयन' ('धूमरनयन') कर दिया है। मार्कण्डेय पुराण के देवी-माहात्म्य१२ पर आधारित देवी-वन्दना के इस चरण में उमापति ने लाक्षणिक रूप में उस प्रसंग की ओर संकेत करते हुए—यही कहना चाहा है कि देवी ने (शुम्भ के सेनानायक) 'धूम्रलोचन' को जलाकर खाक कर डाला और आवेश में उसकी भस्मी अपने सम्पूर्ण शरीर में पोत ली। इस 'जला कर खाक कर डाला' वाले अंश का अभिधेयार्थ ग्रियर्सन ने दिया तो 'उसकी भस्मी अपने सम्पूर्ण शरीर में पोत लेने' वाले शेषांश का लक्ष्यार्थ (विपरीत लक्षणा) डा० वर्मा ने१३ और इस सम्पूर्ण पौराणिक पृष्ठाधार से अनभिज्ञ पीयूषजी ने 'धूमरनयन' को बहुव्रीहि से कर्मधारय करते हुए सम्पूर्ण अर्थ पर ही भस्म रमा दिया है।१४

(२) सब सुर सकति रूप धारिनि, सेवक सबहिक उपकारिनि।

अनुपम रूप सिंह वाहिनि, सबहि समय रहिहह दाहिनि॥

पद—१, चरण—४, ५

यहाँ ग्रियर्सन और बजरंगजी ने 'सकति' को 'शक्ति' मानकर—'हे सब देवों की शक्ति से (समवेत) रूप धारण करनेवाली देवि'—ऐसा अर्थ किया है। जबकि पीयूषजी ने इसे 'सकना' (क्रिया रूप) मानकर शक्ति को बहुरूपिणी बना दिया है। वे कहते हैं—'सभी देवताओं का तुम रूप धारण कर सकती हो।' उसी प्रकार अगले पद का अर्थ —'सेवक सबों की तुम उपकारिणी हो'

---

९ ग्रियर्सन—"पीयूष-संस्करण में उद्धृत, पृ० १०४

१०. पीयूष-संस्करण, १३७

११ बजरंग-संस्करण, पृ० ५

१२ द्रष्टव्य .—ग्रियर्सन-टीका, पादटिप्पणी-१ (पीयूष-संस्करण, पृ० १०४ तथा बजरंग-संस्करण, परिशिष्ट २, पृ० ७२।

१३. बजरंगजी की टिप्पणी कुछ भिन्न है। इनके अनुसार मधु कैटभ के संहारक विष्णु महामाया नहीं। पर कवि ने स्पष्टतः देवी को ही मधु-कैटभ मर्दिनि' कहा है।

१४. पीयूष टीका, पृ० १३७।

ऐसा न कर 'सबों की रक्षा के लिए तुम सेविका हो'—ऐसा करके आपने देवी की भी खूब खबर ली है। अर्थ का यह अनर्थ अन्तिम चरण तक चलता है जब कि वे 'सबहि समय रहिहह दाहिनि' का अर्थ – सदा प्रसन्न हो वरद मुद्रा में रहनेवाली देवी की कामना के स्थान पर पूर्व पद से जोड़ते हुए लिखते हैं—' . (वाहन सिंह है) जो सर्वदा दहाड़ता रहता है।'१५ 'दाहिनि' का अर्थ 'दहाड़ना' कितना दारुण है !

(३) स्ववचनममृतं – श्लोक – २, चरण—१

सांगरूपक परक इस पद का अर्थ जहाँ ग्रियर्सन और बजरंगजी ने 'स्ववचन ही अमृत है' ऐसा किया है वहाँ पीयूषजी ने—'जिनकी वाणी आर्त है'१६ — ऐसा करते समय कदाचित् 'अमृत' को 'मृत' समझ लिया जो भ्रामक है।

(४) चानकला नयनानल थापल मानल सुरूख भुजंगवरा।

अमियसार हर अविरल होमल हसल सकल सुर असुर नरा। पद—२, चरण ४, ५

यह एक ऐसा सांगरूपात्मक पद है, जिसके अर्थापन में सभी टीकाकार कुछ-न-कुछ चूक गये हैं।

ग्रियर्सन ने सांगरूपकन्यस्त वैवाहिक विधि को ही उलट कर इसे मात्र शिव के हास्यास्पद स्वरूप-वैचित्र्य ('Mocking at his appearance rude') तक सीमित कर दिया है। उनके अनुसार 'शिव के गले में भयानक सर्प, ललाट पर नेत्राग्नि और चूरे में वर्द्धमान चन्द्र है।' यह 'चानकला, नयनानल और भुजंगवरा' का क्रमिक अर्थ-विपर्यय हुआ। बच गया—'मानल सुख' (ग्रियर्सन संस्करण में 'सुरूख' की जगह 'सुख' पाठ ही है)। तो उसी का अर्थ आपने किया है—(. अपने इसी विचित्र स्वरूप में) 'शिव ने पार्वती की मीठी (सु) वन्दना (ख) स्वीकार की (मानल)।' अनन्तर द्वितीय चरण का पहले चरण से निरपेक्ष अर्थ दिया गया है। किन्तु, वैवाहिक कार्यक्रम को नैरन्तर्य में देखने पर हवन-कि.ा का अन्वय भी ऊपर के चरण से ही सार्थक हो सकता है। वस्तुतः कवि का अभीष्ट यह नहीं है। कवि शिव-गौरी के इस विचित्र विवाह-प्रसंग में मैथिल परिपाटी को शिव की स्वरूप विचित्रता और हवन-क्रिया में एक साथ संघटित करता हुआ-सा दीख पड़ता है। इस संघटन के लिए उसने यहाँ सांगरूपक की बड़ी भव्य योजना की है।१७ तदनुसार, चान्द-कला रूपी आज्यस्थाली में नेत्राग्निरूपी अग्नि प्रज्ज्वलित कर तथा सर्पराज

१५. पीयूष टीका, पृ० १३७

१६. वही, पृ० १३८

१७ द्रष्टव्य :—'मिथिला मिहिर'—८ अगस्त '६५ का निबन्ध—'हिन्दी लेखकक हाथें मैथिलीक दुर्गति'। पृ० ७

को स्रुवा बनाकर शिव ने अमृत रूपी सार (चन्द्रमा के सार रूप में स्थित अमृत) का निरन्तर हवन प्रारम्भ किया, जिस बेढंगी विधि को देखकर सभी देव, दानव और मानव-गण हँस पड़े।

बजरंगजी ने यद्यपि इस साँगरूपक को पकड़ा है, पर शुरू में ही शिव का स्वरूप भङ्ग करते हुए लिख दिया—'तुमने चन्द्रमा की कलाओं के ऊपर (अपने तृतीय) नेत्र की अग्नि स्थापित की...।[१८] चूँकि शिव-स्वरूप में नेत्राग्नि चन्द्रमा की कलाओं के नीचे है अतः 'ऊपर' कहना ठीक नहीं। दूसरे, यदि आप 'चन्द्रमा की कलाओं' में किसी पात्र या आज्यस्थाली का प्रच्छन्न आरोप मानते हुए (हवनहेतु) उसमें 'नेत्र की अग्नि स्थापित' करना चाहते तो भी चन्द्रमा की कलाओं के ऊपर' न लिखकर 'चन्द्रमा की कलाओं में' ही (लिखकर) नेत्र की अग्नि स्थापित करते। अतः 'में' की जगह 'ऊपर' लिख देने से बजरंगजी की यह रूपक-योजना शिव के इस रूप चित्र के अनुरूप क्रमबद्ध और सार्थक न होकर विरूप, क्रमहीन और निरर्थक हो गयी है।

अब जरा पीयूष जी के अर्थ पर दृष्टिपात कीजिए। वे ऊपर के चरण का अर्थ करते हैं—'जिसकी आँखों में अप्रतिम तेज है, गले में भुजंग की माला है और जिसकी भौंहों में चन्द्रमा की कला का वास है।[१९] जिसकी आँखों में अप्रतिम तेज है'—यह 'नयनानल' का अर्थ उतना नहीं लगता जितना ग्रियर्सन के "his eye of burning heat" का गद्यानुवाद। उसी तरह 'गले में भुजग की माला' शायद 'मानल सुख भुजंगवरा' का अर्थ हुआ। क्या मानल' के लिए ही 'माला' और 'सुख' के लिए 'गले' की सुमधुर ध्वनिमूलक कल्पना की गयी? अथवा यह भी ग्रियर्सन के "Snakes around his neck" का ही भावानुवाद है। इसका तीसरा खण्ड—'भौंहों में चन्द्रमा की कला' तो और भी विचित्र है। भला चन्द्रमा शिव की चूड़ा से च्युत होकर भौंहों में कैसे न्यस्त हो गया? तो, इस विषय में भी ग्रियर्सन की नकल ही जिम्मेदार है। ग्रियर्सन का पद्यानुवाद है—"upon his brow, the crescent moon' यहाँ 'brow' का अर्थ 'eye brow' अर्थात् भौंह नहीं, शिखा (चूड़ा) है। किन्तु पीयूष जी ने चटपट इसे 'भौंह' मानकर 'the crescent moon' का 'चन्द्रमा की कला'—यह अर्थ डाल दिया है, जो सर्वथा भ्रामक है : जहाँ बजरंग जी ने चन्द्रमा की कलाओं को ललाटाग्नि से नीचे स्थापित कर दिया, वहाँ पीयूष जी ने इसे ललाट से भी नीचे भौंहों में समाविष्ट कर उल्टी अर्थ-परम्परा निभायी है। उमापति का यह शिव-स्वरूप वर्णन कितना क्रमबद्ध है! पहले 'चानकला' फिर 'नयनानल' और फिर भुजगवरा'। कहाँ शिखर से ललाट और ललाट से ग्रीव का यह अनुक्रम और कहाँ टीकाकारों की यह विडम्बना! इसके अतिरिक्त दूसरे चरण - 'अमिय सार हर अविरल होमल' का अर्थ तो

१८. बजरंग-टीका, पृ० ९
१९. पीयूष, टीका, पृ० १३८

पीयूष जी ने कुछ दिया ही नहीं।२० यहाँ शिव का स्वरूप-चित्रण सुव्यवस्थित होने पर भी साँग-रूपक के प्रभाव से सबों के हास्य का सुखद उपकरण बन गया है। और, यह आलंकारिक वर्णन आरोपित नहीं, वरन् शिव के विचित्र विवाह-प्रसंग के अनुरूप और सहज है।

(५) दीप समीप बरय फनि मनिगन देखि देव दुहु मन मिलला। पद—२, चरण—७

डा० ग्रियर्सन ने अपने पद्यानुवाद में इसके सीधे सादे अर्थ का अनावश्यक विस्तार कर दिया है। उनके अनुसार 'पास ही, पूजा के विवाह (चौमुख) दीपों के लिए उस (दूल्हे शिव) ने सर्प की मणियाँ (सूर्य की भाँति) चमका दी।२१ डा० बजरंग लगभग इसी का अनुकरण करते हुए लिखते हैं—'समीप ही सर्पों के मणियों के दीप (चौमुख) जल रहे हैं'''।२२ वस्तुतः दोनों ही टीकाओं से कवि का यह इष्टार्थ बाधित ही हुआ है कि 'दीप की जगह सर्पों की मणियाँ जल रही हैं।' अतः 'समीप' का दोनों के द्वारा किया गया अर्थ ('निकट या पास') गलत है। यह समीप तो 'दीप' का विकल्प वाची पद है अर्थात् दीप के स्थान पर, दीप की जगह। जैसे आज्यस्थाली की जगह चाँद, वेदग्नि की जगह नेत्राग्नि, स्रुवा की जगह सर्प, घी की जगह अमृत, सुव्दञन की जगह भाँग, पुष्प शैय्या की जगह बाघछाल, वैसे ही दीप की जगह सर्प-मणि। पीयूषजी ने इसी लक्ष्यार्थ को कुछ-कुछ परखते हुए लिखा है—'दीप के रूप में साँपों की मणि ही प्रज्ज्वलित करता है।२३

उसी प्रकार, इसके दूसरे खण्ड के व्यंग्यार्थ में भी विद्वानों को कठिनाई हुई है। सबसे ज्यादा कठिनाई ग्रियर्सन की है। उन्होंने तो मन-मिलन के इस व्यंग्यात्मक प्रसग को अभिधा द्वारा बतलाते हुए शिव-गौरी दोनों को द्रविड़ प्राणायाम ही करा दिया है। उनके अनुसार— शिव और पार्वती आमने-सामने खड़े हो परस्पर हृदय मिलाते हुए दो से एक हो गये।२४ शिव-गौरी के मन-मिलन के अतिरिक्त कवि का व्यंग्यार्थ यहाँ यह भी है कि जैसी बेढंगी दुरहिन पार्वती वैसे ही बेढंगे दूल्हा शिव निकले। पार्वती ने भी अपने ही मुख से अपना दान-वचन बारम्बार गा लिया तो शिव ने भी अपने ही विचित्र स्वरूपावयवों से हवन, दीप, साज सज्जादि को वैवाहिक विधि पूरी कर ली। दो बेढंगी प्रकृति के वर-वधू का यही मिलन—'देखि देव दुहु मन मिलला' में विवक्षित है। तब रह गयी तन-मन-मिलन की बात। तो दान-वचन, हवन-प्रक्रिया, भाँग-भोजन (क्षीर भोजन की

---

२०. वही, पृ० १३९

२१. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १०७ (पीयूष संस्करण, परिवर्द्धित)

२२. बजरंग-टीका, पृ० ९

२३. पीयूष-टीका, पृ० १३९

२४. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १०७ (वही)

जगह), मधुगृह जैसी साज-सज्जा और मणि-दीपों के प्रसंग के आगे यदि मन के साथ-साथ तन-मिलन की भी रमणीय कल्पना कर ली जाय तो वह अस्थान प्रयुक्त तो नहीं ही कहलायगी। किन्तु, इसका यह तात्पर्य नहीं कि उक्त प्रसंग में कवि का अभीष्ट शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप की कल्पना है।२५ यह वस्तुतः उमापति की कल्पना नहीं, पीयूष जी की निजी कल्पना है। क्योंकि, स्वयं पीयूष जी के अनुसार—'जिसमें शिव आधा पुरुष और आधी स्त्री के रूप में चित्रित हैं' उस अर्द्धनारीश्वर रूप की झलक इस गीत के किसी शब्द में भी नहीं है। और, इस गीत की तुलना में विद्यापति के जिस अर्द्धनारीश्वर परक पद की चर्चा की गयी है२६ उससे इसका कोई रूपगत साम्य नहीं। सच तो यह है कि ग्रियर्सन के उक्त पद्यानुवाद में ही पीयूष जी की अर्द्धनारीश्वर-कल्पना का बीज सन्निहित था। अन्तर यदि कुछ था तो यही कि जिसे ग्रियर्सन ने अर्थ द्वारा संकेतित किया, उसे पीयूष जी ने अर्थवाद द्वारा सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा की है। इस दृष्टि से विचार करने पर बजरंग वर्मा कृत—'देवी (पार्वती) एवं देव (शिव) दोनों का (परस्पर) मन-मिलन हुआ—२७ यह अर्थ ही सर्वाधिक समीचीन है। पर इसमें भी जो व्यंग्यार्थ की कमी है उसकी ओर ऊपर संकेत कर दिया गया है।

(६) भाव भगति भावित भगवति भव देथु सदा जय अभय वरा। पद-२, चरण—८

इस चरण के पूर्वार्द्ध का अर्थ भी ग्रियर्सन और पीयूष जी ने पूर्ण सन्तोषप्रद नहीं किया है। पीयूषजी का अर्थ ग्रियर्सन के पद्यानुवाद का गद्यानुवाद ही है। ग्रियर्सन के अनुसार—'भव (शिव) और भगवती (पार्वती) यहाँ हमारे मनों को प्रेम और विश्वास से भर दें। वे हमें चिर विजय का वर दें और प्रत्येक बुराई से रक्षित करें।'२८ पीयूष जी के शब्दों में—'भव और भगवती दोनों ही हमारी आत्मा को प्रेम और विश्वास से भरें। हमें विजय का वर दें और सभी दुर्गुणों से रक्षित करें।'२९ अतः दोनों को मिलाकर देखने से साफ जाहिर होता है कि पीयूष जी के समक्ष मूल पुस्तक की जगह ग्रियर्सन-टीका उल्टी हुई थी। उक्त दोनों की अपेक्षा बजरंग जी-कृत अर्थ ही साधु है। उनके शब्दों में—'भक्तों के भाव एवं भक्ति से जिनकी भावना की जाती है, वे भगवती और भव सर्वदा जय और अभय वर दें।'३०

---

२५ पीयूष-टीका, पृ० १३९, पाद टिप्पणी सं० २

२६ विद्यापति-पदावली (बेनीपुरी-संस्करण)-पद सं० २३१—जय जय संकर जय त्रिपुरारि।

२७ बजरंग-टीका, पृ० ९

२८. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १०७

२९. पीयूष-टीका, पृ० १३९

३०. बजरंग-टीका, पृ० ९

(७) कंस केसि कुल मोचल'''सुमति उमापति भान। पद—३

मैथिली के क्रिया पदों से अनभिज्ञता प्रकट करते हुए तीनों ही टीकाकारों ने इस तीसरे मैथिली गीत के समस्त चरणों का भ्रान्तिपूर्ण अर्थ कर दिया है। यह नाटक के संस्कृत भाषी धीर ललित नायक श्रीकृष्ण का प्रवेशिका गीत है, जो मैथिली में होने के कारण, नेपथ्य से गाया गया है। तुरत बाद इसी भाव का संस्कृत श्लोक मंच पर भी कृष्ण स्वगत रूप में गाते हैं। पर चूँकि, मंच पर संस्कृत में कृष्ण गा देते हैं इसलिए परोक्ष में इस मैथिली गीत के उनके द्वारा कुछ ही पूर्व गाये जाने की सम्भावना उच्छिन्न नहीं हो जाती। दूसरे, मैथिली क्रियापदों 'उतारब तारब', 'थापब हरब', 'करब धरब', 'अवधारब' आदि प्रथम पुरुष के सार्वनामिक प्रयोगों (हम) के ही अनुरूप हैं। और, इसके प्रयोक्ता तथा पुरस्कर्त्ता स्वयं भगवान कृष्ण हैं। अत इसके अर्थों में समप्रत कर्त्तृपद पर ग्रियर्सनद्वारा प्रयुक्त—तृतीय पुरुष एकवचन (वह), पीयूष जी द्वारा प्रयुक्त—मध्यम पुरुष अनादर सूचक (तुम) तथा बजरंग जी द्वारा प्रयुक्त तृतीय पुरुष आदर सूचक (कहीं 'इन्हे' और कहीं 'उन्हें') दोषपूर्ण हैं। इनके स्थानपर समप्रत· प्रथम पुरुष के प्रयोग ही साधु हैं।

(८) भगत भाव अवधारब धरब परम पद आनि ॥ पद—३, चरण—६

ग्रियर्सन और पीयूष दोनों ने ही इसका गलत अर्थ लगाया है। ग्रियर्सन के अनुसार—'और ईश्वर में मिलकर वह प्रेम और विश्वास अवश्य प्रतिष्ठित करेंगे। सबों को उनका प्राप्तव्य मोक्ष और स्वर्ग का पद मिल सकेगा।३१ यहाँ क्रिया का काल तो ठीक है, पर पुरुष-विचार और अर्थ-विस्तार व्यर्थ है। उसी प्रकार पीयूष जी के अनुसार—भक्तों के भाव के आधार के रूप में तुम पूजित हो, तुम्हें ही प्राप्त कर परम पद मिलता है।'३२ यहाँ 'अवधारब' क्रिया का 'आधार के रूप में' अर्थ एकदम भ्रष्ट है। यह तो भक्तों की भक्ति भावना को कृष्ण के अन्त:करण द्वारा धारण करना है। उसी तरह दूसरे चरण का अर्थ भी विकृत है। यथार्थ तो यह है कि कृष्ण अपने भक्तों के लिए मोक्ष पद को लाकर रख देंगे। सारांशत· इस सीधे-सादे चरण की भी बड़ी अर्थ विकृति हुई है। भक्तों के भाव को हृदय में धारण करते हुए उन्हें मोक्ष-पद सुलभ कर दूँगा—यहाँ कृष्ण का यही संकल्प व्यंजित है। बजरंग जी ने जहाँ इस भाव-व्यंजना को पकड़ा है वहीं उनका वाक्य-विन्यास सुनिश्चित कर्त्तृपद और भविष्यकालिक क्रियापद के अभाव में पंगु बन गया है।३३

(९) निज मधुहिं मातलि पल्लवच्छवि लोहितच्छवि छाजहीं। पद—४, चरण—६

लोहितवर्णी पल्लवों की छवि का सम्यक् अर्थापन डॉ॰ ग्रियर्सन और बजरंग जी ने किया है।

---

३१ ग्रियर्सन-टीका, पृ॰ १०८

३२. पीयूष-टीका, पृ॰ १३९-१४०

३३. बजरंग-टीका, पृ॰ ११

किन्तु, पीयूषजी ने 'पल्लवच्छवि' का 'भ्रमर' अर्थ करके इस चरण का एक अनूठा अनुवाद प्रस्तुत किया है। उनके शब्दों में – 'अपने मधु से ही माते हुए भँवरे कालिमा का पान करते हुए अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ते हैं।'३४ प्रथम तो 'पल्लवच्छवि' का अर्थ ही 'भँवर' कैसे हो गया, यही समझ में नहीं आता। पर, यदि थोड़ी देर के लिए इसे मान भी लें तो शेष पदों (लोहितच्छवि छाजहीं) का भी वह अर्थ न होगा जो आगे किया गया है। अतः 'पल्लवच्छवि' के साथ-साथ 'लोहितच्छवि' का अर्थ 'कालिमा का पान करते हुए' देकर टीकाकार ने वस्तुतः अपनी पल्लवग्राहिणी वृत्ति का ही परिचय दिया है। भ्रमर का प्रसग तो अगले चरणों (९-१०) में नीचे आ ही गया है।

(१०) नव मधुर मधु रसु मुगुध मधुकर निकर निक रस भावहीं।

जनि मानिनी जन मान भंजन मदन गुरु गुन गावहीं॥ पद—४, चरण—९, १०

इसके प्रथम चरण का पाठ कहीं-कहीं 'मधुर सुमुगुध ('मधु रसु मुगुध' के बदले) भी मिलता है।३५ इस कारण, पीयूष जी-कृत प्रथम चरण के अर्थ को टाल भी दिया जाय तो दूसरे चरण की भूल भुलाने योग्य नहीं है। नवीन और मीठे मधु-रस पर मुग्ध मधुकर-वृन्द सराह-सराह कर उसका रस-पान कर रहे हैं। उनका यह मधु-गुंजार ऐसा लग रहा है मानो मधु रस के पुञ्ज (फूल और फल) उन मानिनी नायिकाओं के सदृश हों जिनका मान-भंग करने के लिए कामदेव उनका गुणगान कर रहा हो। यहाँ मधु-रस में मानिनी नायिकाओं की तथा मधु-गुंजार में कामदेव के गुणगान की उत्प्रेक्षा की गयी है। इसके स्थान पर पीयूष जी का अर्थ देखिये—('नव मधुकरों का मादक स्वर बड़ा ही मन भावन लगता है,) मानिनियाँ मान-भग के लिए मदन का गुणगान कर रही हों।'३६ पीयूषजी के अनुसार शायद मदन ही मान ठाने है और तथाकथित अनुरक्ता 'मानिनियाँ' उस मानी मदन का मान-भग करने के लिए उसका गुणगान कर रही हैं। अथवा, शायद मानिनी स्त्रियाँ मान-भंग के लिए कामदेव की खुशामद कर रही हैं। जो हो, ये दोनों ही विकल्पार्थ गलत होंगे। साथ ही 'मानो' के बिना 'रही हों' क्रियापद अन्वय-दोष के साथ-साथ रचनागत दोष का तो साक्षी है ही, वाच्योत्प्रेक्षा को 'गम्या' बना देने के उपलक्ष में अलंकार-दोष का भी सूचक है।

(११) सहस सोड़स नायिका, पद-४, चरण-१३

इस सरलतम पद का अर्थ जहाँ ग्रियर्सन और बजरंगजी ने सहज ही 'सोलह सहस्र नायिका' किया है वहाँ पीयूषजी ने इसका अर्थ—'सोलह सहस्र षोडसी बालिकाएँ'३७ कर दिया है। 'सोड़स'

३४ पीयूष-टीका, पृ० १४०

३५. ग्रियर्सन-संस्करण, पृ० ७२ (पीयूष-संस्करण, परिवर्द्धित)

३६. पीयूष-टीका, पृ० १४०

३७. पीयूष-टीका (क) द्वितीय संस्करण १९६२, पृ० ८५ (ख) परिवर्द्धित संस्करण (१९६७) 'सोलह सग्रह षोडषी बालिकाएँ पृ० १४०

में 'षोडसी' और 'नायिका' में (षोडषी) 'बालिका' की गन्ध तो कोई नायिका-भेद विशेषज्ञ ही पा सकता है।

(१२) बेनब-दण्ड बेद कर सोम। आबथि नारद दरसन लोम॥ पद-५, चरण ३

नारद के अवतरण का दृश्य है। उनके एक हाथ में वेणु-दण्ड और दूसरे में वेद सोभित हैं। नारद के इस स्वाभाविक रूप-चित्रण में भी पीयूषजी को कठिनाई हुई है। उनके शब्दों में—'उसके हाथ की वीणा उन्हें और अधिक शोभित कर रही है। ३८ यहाँ न तो 'दण्ड' का कथन है और न 'वेद' का उल्लेख। इसी तरह दूसरे खण्ड का अर्थ भी दोष-पूर्ण है। नारद कृष्ण-दर्शन के लोभ से द्वारिकापुरी पधार रहे हैं। इधर पीयूषजी कहते हैं—'ऐसे रूप में नारद आ रहे हैं, उनका दर्शन कीजिये।' ३९ इसके आगे के शब्द तो ग्रियर्सन के पद्यानुवाद से अनुगृहीत हैं।

(१३) ब्रह्मासुत मोर सम्भुक मीत॥ पद-५, चरण-४

इस चरण के विशिष्ट खण्ड 'मोर सम्भुक मीत' का अर्थ ग्रियर्सन और पीयूषजी ने एक जैसा किया है, जो गलत है। इनके अनुसार इसका तात्पर्य है—'मेरे शंकर के मित्र'। और कुछ विद्वानों ने तो 'मेरे शंकर' का तात्पर्य 'कवि के इष्टदेव (शंकर)' के रूप में करते हुए इसे कविवर उमापति की साम्प्रदायिक विचार-धारा का सङ्केत सूत्र ही बना लिया है। ४० 'मोर सम्भु' यदि वास्तव में उमापति का सम्प्रदायगत विचार-प्रतीक होता तो अगले ही संस्कृत श्लोक में वह नारद को शम्भु या विरश्चि के लिये भी अज्ञेय गोविन्द के पदारविन्द-दर्शन से कृतार्थ नहीं कराते। वस्तुतः 'मोर' यहाँ विष्णु अर्थात् स्वयं कृष्ण के लिये व्यंजित है। नारद ब्रह्मा के पुत्र और विष्णु तथा महेश के आत्मीय (मित्र) हैं—यही यहाँ अभिप्रेत है। वस्तुत 'मोर और 'शम्भु' के बीच का अध्याहार ही वह कारण है जिससे न्यूनाधिक रूप में तीनों ही टीकाकार ग्रस्त हैं। यहाँ तो त्रिदेवों से नारद के निकटतम सम्बन्ध की सूचना ही कवि का अभीष्ट है। चूँकि कथागायक कृष्ण के सःश्लेष में यह गीत गा रहा है अत कृष्ण के लिये सार्वनामिक विशेषण के रूप में 'मोर' शब्द का प्रयोग संगत ही है।

(१४) सुमति उमापति मन परमान। जगमाता देवि हिन्दूपति जान॥ पद ५, चरण ५

मैथिली पदों के अन्तिम भणितात्मक चरण का अर्थ पीयूष—टीका में प्रायः सर्वत्र दोषपूर्ण रहा है। यहाँ भी 'जगमाता' देवी का समासविग्रह कर उन्हें जगदम्बा बनाते हुये उनसे सम्राट हिन्दू-

३८. पीयूष-टीका पृ० १४१।

३९ „ वही।

४०. हिन्दुस्तानी अप्रील १९३५ डा० उमेश मिश्र का निबन्ध 'म० म० कवि पण्डित मुख्य उमापति उपाध्याय' (पृ० १३०)।

पति की रक्षा की प्रार्थना करायी है। पर वस्तुतः यह कवि का अभीष्ट नहीं है। विद्वान उमापति प्रामाणिक वचन कहते हैं और जगमाता देवी तथा हिन्दूपति दोनों ही इसे जानते हैं। यही कवि की स्वाभाविक भणिति है। हाँ, 'जगमाता' सम्राट हिन्दूपति की रानी माहेश्वरी देवी का एक ऐसा पर्यायवाची नाम है जिसका अन्वय इन दोनों के साथ सटीक बैठता है जगदम्बा देवी और महादेवी अर्थात् पट्टमहिषी। डा० ग्रियर्सन ने भी इस श्लिष्ट प्रयोग को लक्ष्य किया है।४१ पीयूषजी ने ग्रियर्सन कृत इस वैकल्पिक अर्थ को नजरअन्दाज कर 'Mother of the universe' का सीधा अनुवाद कर दिया है। और उनसे 'हिन्दूपति की रक्षा की प्रार्थना' तो नितान्त अप्रासंगिक और बाध्यार्थक है।

(१५) समय परम पद लागी। पद-६ चरण-३

यहाँ मोक्ष के हेतु हरि-भक्ति की कामना की गयी है। पीयूषजी उक्त अंश का अर्थ करते हैं— उनके चरण-स्पर्श से कृतार्थ होऊँगा। ४२ यह व्यर्थ है। शायद यह 'पाँव लागी' की दुरागत लोक ध्वनि है।

(१६) पाँचवाँ संस्कृत श्लोक भगवान विष्णु की ऐश्वर्य,वन्दना से भूषित है। बजरंग जी ने इसका अर्थापन अनादर सूचक मध्यमपुरुष को सम्बोधित कर किया है जबकि कृष्ण-नारद—संवाद प्रसंग में सदा आदरवाचक का प्रयोग हुआ है। अत. यह असाधु है।

(१७) भगति दीअ जएँ पानी। से लेह अमिअ सम जानी॥ पद-७, चरण-४

उक्त चरण का अर्थ ग्रियर्सन और उनके अनुयायी पीयूषजी दोनों ने त्रुटिपूर्ण कर दिया है। नारद इन्द्रपुरी से लाया हुआ पारिजात पुष्प भगवान कृष्ण के चरणों में भक्ति भावपूर्वक समर्पित करना चाहते हैं। इसी प्रसंग में, कृष्ण द्वारा पूछने पर वह पुष्पार्पण की अभिलाषा प्रकट करते हुए शीलवश निवेदन करते हैं कि कोई भक्त यदि भक्तिपूर्वक आपको तुच्छ जलाञ्जलि भी देता है तो आप उसे अमृतवत् ग्रहण करते हैं।४३ इस सीधे अर्थ की जगह ग्रियर्सन कहते हैं—'भक्ति रूपी प्याले का जल चखने के लिये मैं तृषित हूँ, उत्कंठित हूँ। और इसका पान करते ही मैं पाप-मुक्त अनुभव करता हूँ। मेरे लिये तो यह जैसे अमृत-तुल्य है।' यहाँ भगवान की अपेक्षा भक्त की तृषा और तृप्ति का ही अधिक बखान कर दिया गया है। नतीजा ईश्वर की कृपालुता, गुण-ग्राहकता और आशुतोष वृत्ति वाला केन्द्रीय भाव दब गया।

४१. ग्रियर्सन टीका, पृ० ११२, पाद-टिप्पणी-२
४२. पीयूष-टीका, पृ० १४२
४३. इस प्रसंग में सुदामा का तण्डुल स्मरणीय है।

पीयूषजी ने भी भगवान के सहज औदार्य को उद्देश्य न बनाकर भक्त और भक्ति का उद्देश्य-रूप कथन किया है। उनके अनुसार—'आपकी कृपा के रूप में जो भक्ति मुझे प्राप्त होगी, उसे मैं अमृत समझ कर धारण करूँगा।'४४ इस चरण के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड का उद्देश्य भक्त है जो भगवान को भक्तिपूर्वक तुच्छ अर्घ्य ही देता है। तथा, दूसरे खण्ड का उद्देश्य स्वयं भगवान हैं जो भक्त के दिये गये अर्घ्य को अमृत-सम महत्वपूर्ण समझ ग्रहण करते हैं। गीता में स्वयं कृष्ण ने स्पष्ट घोषणा ही की है कि—'पत्र,पुष्प, फल या जल जो कोई भक्तिपूर्वक मुझको अर्पित करता है, उसे मैं प्रीतिपूर्वक ग्रहण करता हूँ।'४५ डॉ० बजरंग वर्मा ने इसी दृष्टि से अर्थ किया है जो उचित ही है।'४६

(१८) असच्चं देईए अग्गदो कहिस्सं।—सुमुखीवचन सत्याप्रति, पद-८ के आगे सुमुखी के इस प्राकृत संवाद का ग्रियर्सन ने जो मुहावरेदार गद्यानुवाद किया है, उसका ठीक-ठीक अर्थ न समझ सकने के कारण पीयूषजी ने अर्थ का अनर्थ कर डाला है। ग्रियर्सन के अनुसार—'क्या मैं देवी के समक्ष सत्य के सिवा कुछ भी बोल सकती हूँ।'—यह अर्थ है जो ठीक ही है। किन्तु, 'any thing but truth'—का अर्थ 'सत्य के सिवा कुछ भी (नहीं)'—यह न करके पीयूषजी ने लिखा है—'क्या मैं श्रीमती के समक्ष कुछ निवेदन कर सकती हूँ, जो सत्य ही है।'४७ इस 'सिवा' (but) में जो निषेध है, उसकी परख नहीं रहने के कारण ही यह भूल हुई। और फलत. पीयूष-कृत संवाद में काकु ध्वनि के स्थान पर एक भ्रान्त सीधगी आ गयी है। इससे अर्थ-तुष्टि नहीं हो पाती।

(१९) उगल-जुगल कुवलय लय चन्दा॥ पद-९, चरण-६

इस गम्योत्प्रेक्षा मूलक पद के अर्थापन में ग्रियर्सन से भूल हो गयी है और इसी कारण पीयूषजी भी गलती कर बैठे हैं। 'कुवलय' का अर्थ होता है—'नील कमल' जो सुन्दर नयन की उत्प्रेक्षा के सर्वथा उपयुक्त है। कवि के अनुसार प्रसन्न मुख पर दो सुन्दर नेत्र ऐसे लगते हैं मानो दो नील कमल से भरा हुआ चाँद उग आया हो। प्रसन्न मुख में चन्दोदय की, नीलांजना दो आँखों में दो नील कमलों की अथवा शुभ्र आनन पर नील वर्ण रंजित नेत्रों में समग्रत. कालिमायुक्त चाँद की उत्प्रेक्षा उमापति की अलंकार-पटुता का ज्वलन्त प्रमाण है। इस अलंकार-योजना के आड़े आने वाली कवि-प्रसिद्धि, जिसके अनुसार कुवलय चन्द्रोदय-काल में नहीं खिल सकते, के कारण ही संभवत. ग्रियर्सन

४४. पीयूष-टीका, पृ० १४३
४५. गीता—९-२६
४६. बजरंग-टीका, पृ० २१
४७. पीयूष-टीका, पृ० १४४

ने कुवलयका अर्थ 'कुमुद' (lily) कर दिया है[४८] जो शब्दार्थ के अनुरूप नहीं। वस्तुतः इसमें कोई असंगति नहीं है। दो नील कमलों को लेकर उगने वाले चाँद में एक ओर जहाँ उत्प्रेक्षा का चमत्कार है वहीं रूपकातिशयोक्ति की सूक्ष्म झलक भी गोस्वामी तुलसी जैसे सिद्धहस्त कवि ने भी राम के रुचिर स्वरूप-चित्रण में ठीक ऐसी ही उत्प्रेक्षा की है—'सजनी ससि में समसील उभै, नव नील सरोरुह से बिकसै।' 'ससि' में 'नील सरोरुह' के विकसने में कवि-प्रसिद्धि जन्य संकोच तनिक भी नहीं है। अतः ग्रियर्सन से तुक मिलाकर पीयूषजी का यह अर्थ करना भी ठीक नहीं—'मानो युगल कुमुदिनी चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में खिल उठी हो।'[४९]

(२०) पिअर बसन तन भूखन मनी। पद-९, चरण-९

कृष्ण के रूप-वैभव क्रम में उक्त पद का अर्थ पीयूषजीने एकदम भ्रष्ट कर दिया है। कृष्ण के श्यामल तन पर पीला वस्त्र और मणियों के भूषण ऐसे लगते हैं मानों नये बादलों में बिजली कौंध रही हो। पीयूषजी 'पिअर बसन' का अर्थ करते हैं – 'नीला वस्त्र' और 'तन भूखन मनी' का अर्थ—'तन वैसा दीपित है।' ये दोनों ही अर्थ भ्रष्ट हैं। पीला को नीला और विश्ववंद्य पीताम्बरधारी को नीलाम्बरधारी बना देना वस्तुतः पद-पदार्थ के प्रति अन्याय करना ही है।

(२१) जीवन धन मन सरबस देवा। से लय करब हरि चरनक सेवा। पद-९,चरण-११,१२

उक्त चरण के अर्थापन में पीयूष तथा बजरंगजी दोनों ने गलती की है। यहाँ सत्या अपने प्राणेश्वर कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य आसक्ति प्रकट करती हुई उनके चरणों में सर्वस्व समर्पण की उत्कट कामना व्यक्त करती है। तदनुसार, वह तन, मन, धन से अपने प्राण सर्वस्व कृष्ण के चरणों की सेवा करेगी। इसके स्थान पर पीयूषजी कहते हैं- 'यह जीवन धन मेरा सर्वस्व है, उसके चरणों की सेवा में करूँगी।[५१] उक्त दोनों ही पदांशों का अर्थ त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। पीयूषजीने 'मन सरबस' पाठ को समवत 'मम सरबस' मानकर 'मेरा सर्वस्व' अर्थ कर दिया। उसी प्रकार 'से लय करब' का अर्थ भी गायब करते हुए केवल 'हरि चरनक सेवा' का अर्थ – उसके चरणों की सेवा में करूँगी' यह देकर छुट्टी पा ली है।

बजरंगजी ने भी प्रथम खण्ड 'जीवन . देवा' का अर्थ—'(मैं) अपना जीवन, धन, मन आदि सर्वस्व (उन्हें) दे दूँगा'—कर दिया है जो ठीक नहीं। 'देवा' का 'दे दूँगा। अर्थ तो उर्दू के अनुसार ही ठीक है, मैथिली के अनुसार नहीं। और चूँकि यह मैथिली प्रयोग ही है इसलिए

४८ ग्रियर्सन-टीका, पृ० ११६
४९. पीयूष-टीका, पृ० १०४
५०. वही, वही
५१. पीयूष-टीका, पृ० १४४

यह देखवाची ही है, क्रियावाची नहीं। और इसका अन्वय प्राणसर्वस्व कृष्ण के पक्ष में होगा, जैसा कि ऊपर ही निर्देश कर दिया गया है।

(२२) अज्ज वि पिआ सद्दो सुणीअदि्ज्जेव्व। सत्याबचन कृष्ण प्रति, पद-१० के आगे

सत्या के इस प्राकृत संवाद (स्वगतोक्ति) के अर्थापन में ग्रियर्सन जैसे भाषाविद् से भी कुछ भूल हो गयी है। और फलतः पीयूषजी ने भी भूल की है। इस संवाद का सीधा अर्थ है—'आज भी प्रिया' शब्द सुना ही जाता है।' सीधा अर्थ तो यह है पर सत्या की यह वक्रोक्ति व्यंग्य बाणों से सन्नद्ध है। चूँकि इसके पूर्व कृष्ण अपनी ज्येष्ठा पट्टमहिषी रुक्मिणी को पारिजात पुष्प अर्पित कर चुके हैं और वह सभी महिषियों में अपने को सर्वश्रेष्ठ जान फूले नहीं समा रही है इसलिए कनिष्ठा नायिका सत्या के लिये इससे अधिक जलन की बात और क्या हो सकती है! इसी बीच जब प्रतीक्षातुर कृष्ण उसकी (सत्या की) याद करते हैं तो पास ही छिपी सत्या मन में कहती है कि आज ज्येष्ठा पर पूर्णतः अनुरक्त नायक कृष्ण अपने मुख से कनिष्ठा के प्रति भला 'प्रिया' शब्द किस मन से उच्चारते हैं। इस वक्रोक्ति को ग्रियर्सन रबड़ की तरह खींचकर लम्बा तो कर देते हैं पर उनका—'लगता है कि आज मुझे अपने प्रति उच्चरित मात्र 'प्रिया' सम्बोधन सुनकर ही सन्तोष कर लेना है'—यह अर्थ उतना जँचता नहीं[५२]।

पीयूषजी ने उक्त अंग्रेजी गद्य का ही अनुवाद करते हुए लिख दिया[५३]—'लगता है आज मुझे मात्र 'प्यारी' सम्बोधन की ही प्राप्ति हो सकेगी।' इसके आगे प्रकट रूप से सत्या कृष्ण को कहती है—'जअदु जअदु' अर्थात् 'जय हो, जय हो!' ग्रियर्सन साहब इसके लिए कहते हैं हेलो! हेलो[५४] अर्थात् 'जय हो।' पर पीयूषजी अनुवाद करते हैं[५५] 'हा! हा!! जो शब्दार्थ न होकर ध्वन्यार्थ सा हो गया है।

(२३) अन्वेषयामि तावदुपवन लतासु। कृष्ण का स्वगत, श्लोक ७ के आगे

इस संस्कृत संवाद का अर्थ पीयूषजी ने ग्रियर्सन के अन्धानुकरण क्रम में यह दिया है—'मुझे अब शीघ्र ही उससे उस घनी छायावाली झाड़ी में मिलना चाहिए।'[५६] यहाँ 'छाया' तो है ही नहीं, फिर 'घना' का क्या प्रयोजन! और मान-वियोग के इस प्रसंग में 'ढूँढ़ना' की अपेक्षा 'मिलना' तो आकाश कुसुम ही है।

५२. ग्रियर्सन-टीका, पृ० ११८
५३. पीयूष टीका, पृ० १४६
५४ ग्रियर्सन-टीका, पृ० १८८
५५ पीयूष-टीका, पृ० १४६
५६. पीयूष टीका, पृ० १४७

(२४) अपनहु तनु धनि पाव कलेसे ॥ पद-११, चरण-२

इस चरण के अन्तिम पद 'पाव कलेसे' में पाठान्तर है। ग्रियर्सन ने 'पावक लेसे' पाठ ही रखा है। सुमुखी के इस मैथिली संवाद ने ग्रियर्सन जैसे भाषाविद् को भी चक्कर में डाल दिया है। और इसका बहुत कुछ श्रेय उनके इस पाठान्तर को है। परिणामतः पीयूषजी भी इसका अनुवाद करने में धोखा खा गये। ग्रियर्सन द्वारा निर्धारित पाठ ('पावक लेसे') को हम अपने एक निबन्ध५७ ('पारिजात हरण के विभिन्न संस्करण और पाठ') में भ्रमपूर्ण सिद्ध कर चुके हैं।

सुमुखी कृष्ण से अपनी मानिनी सखी सत्या की वियोग-दशा का हाल सुनाती हुई कहती है कि 'हे माधव, मैं धनि के विषय में विशेष क्या कहूँ! वह तो स्वयं अपने ही शरीर द्वारा कष्ट पा रही है।' इसके स्थान पर ग्रियर्सन कहते हैं—'हे माधव, मैं उसके विषय में सविस्तर क्या कह सकती हूँ, जिसका रोष दुर्निवार है। वह क्षुब्ध वामा जब अपनी ओर आग्नेय दृष्टि से निहारती है तो उसके शरीर को जैसे क्रोधाग्नि निगलने लगती है।'५८ पद्यानुवाद में 'आग्नेय दृष्टि' और 'क्रोधाग्नि निगलने' जैसा अर्थ-विस्तार अकिञ्चित्कर नहीं। पर पीयूषजी 'क्रोधाग्नि निगलने' जैसे लक्ष्यार्थ का अभिधेयार्थ करते हुए लिखते हैं५९—'आपकी प्रियतमा के शरीर में आग लग गई है। वह क्रोधित हो उठी है।' यहाँ तो कृष्ण का सर्वनाम आदर वाचक (आप) है, पर इसके पहले वाक्य में कृष्ण संबोधन अनादर वाचक है। यथा, 'हे माधव, मैं तुमसे विशेष क्या कहूँ? आपकी प्रियतमा के शरीर में आग लग गई है।' यह 'डेग भर पर अन्धेर' है।

(२५) भरमहु निअ कर उर पर आनी।
परस तरस सरसीरुह जानी ॥ पद-११, चरण-५, ६

इसका अर्थ भी पीयूष-संस्करण में भ्रामक है। प्रसंग है कि मानिनी सत्या का हाथ यदि भ्रम से भी उसकी छाती पर चला जाता है तो कमल के सदृश उसका शीतल स्पर्श पाकर वह तरस (त्रास) ही खाती है। इस सीधे अर्थ की जगह पीयूषजी संक्षेप से काम लेते हुए कहते हैं—'अपने हाथ को कमल-नाल समझ कर कुपित हो उठती है।'६० इसमें पद के पहले चरण को तो छोड़ ही दिया गया है, दूसरे चरण के 'सरसीरुह' का अर्थ भी गलत है! 'सरसीरुह' का विच्छेद-

५७. द्रष्टव्य—प्रस्तुत लेखक का निबन्ध-विश्वभारती पत्रिका,
संख्या-९/४, मार्च-१९६९ (पृ० ३७१)
५८. ग्रियर्सन-टीका, पृ० ११९
५९. पीयूष-टीका, पृ० १४७
६०. वही, वही

अन्य अर्थ है—तालाब का (पुष्प अर्थात्) कमल। पीयूषजी शायद 'सरसी' का ही अर्थ कमल कर लेते हैं, इसलिए 'रुह' के लिए उन्हें आगे 'नाल' भी जड़ना पड़ता है।

(२६) माधव अबहु करिअ समधाने। पद-११, चरण-११

पीयूषजी ने इस चरण का अर्थ करते हुए 'अबहु' के स्थान पर 'तुमही'६१ (यथा, 'हे माधव ! तुमहीं इसका समाधान करो') लिख दिया है, जो ठीक नहीं। अर्थ होगा—हे माधव ! अब भी तो (उसका कुछ) समाधान करें।' अतः यहाँ 'अबहु' का अर्थ 'तुमही' न होकर 'अब भी' है।

(२७) सुपुरुख निठुर न रहय निदाने॥ पद-११, चरण-१२

इस चरण के अन्तिम शब्द 'निदाने' के अर्थ में पीयूष तथा बजरंगजी दोनों ने ही गलती की है। यहाँ 'निदाने' का अर्थ है—अन्तत (आखिर)। अत पूरे चरण का अर्थ हुआ—'सुपुरुष अन्ततः निष्ठुर ही नहीं बने रहते। पर पीयूषजी ने इसका अर्थ संभवतः 'व्यवहार' करते हुए लिखा—जो अच्छे पुरुष होते हैं, वे इस प्रकार निष्ठुर व्यवहार नहीं करते।'६२ अच्छा होता, टीकाकार 'सुपुरुष' का अर्थ न समझ कर 'निदान' पर ही विशेष ध्यान देते। और, इधर बजरंगजी भी 'चिकित्सा' के चक्कर में न पड़कर 'निदान' का ही कोई 'उपाय' करते। वैसे में, 'सुपुरुष निदान (उपाय या चिकित्सा) में निष्ठुर नहीं बने रहते',६३ न बनता।

(२८) तावज्जाल मार्गेण पश्यामि प्रियाया. कोपावस्थाम्।
सन्देहे पातिता मया। कृष्ण का स्वगत, श्लोक-८ के ऊपर

इस कृष्ण-संवाद का हिन्दी अनुवाद करते समय पीयूषजी के समक्ष सम्भवत. ग्रियर्सन-टीका प्रस्तुत थी, इसीलिए उन्होंने इसका भावार्थ इस प्रकार कर दिया—'इस समय (तावत् ?) मैं गवाक्ष से झाँक कर अपनी प्रियतमा को देखूँगा (?) और उसकी स्थिति का ज्ञान (कोपावस्थाम् ?) करूँगा। ...मैंने उसे घायल (सन्देहे पातिता ?) कर दिया है।'६४ ग्रियर्सन के 'लुक अपआन हर कंडीशन'६५ का अर्थ 'उसकी स्थिति का ज्ञान तो हुआ भी पर उसके आगे जो उन्होंने 'of rath' लिखा, उसका अर्थ तो छूट ही गया है।

(२९) ग्लानैश्च शश्वत्सरैः। श्लोक-८, चरण २

इस संस्कृत श्लोकार्द्ध का अर्थ पीयूषजी ने छोड़ दिया है। मान-विरह की विभिन्न काम-

६१ पीयूष-टीका, पृ० १४८
६२ वही, वही
६३. बजरंग-टीका, पृ० ३५
६४. पीयूष-टीका, पृ० १४८
६५. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १२०

दशाओं में यह स्वर-भंग की वह दशा है, जिसमें ग्लानि के भार से वियोगिनी का कण्ठ स्वर विगलित हो जाता है। कृष्ण उसी को लक्ष्य करते हैं।

(३०) मैथिली गीत सं० १२ क्रमशः सत्या और सुमुखी का युगल-गान है।

इसे संवाद परक गीत भी कह सकते हैं, जिसमें ये दोनों ही नारी-पात्र मान-वियोग में नायक के प्रति अपनी मानसिक प्रतिक्रिया उपालम्भ शैली में व्यक्त करते हैं।

'पारिजात हरण' के ग्रियर्सन से लेकर बजरंग वर्मा तक—किसी भी टीकाकार ने इसे युगल गान का दर्जा नहीं दिया है। यह एक बड़ी त्रुटि है। यथा, प्रारम्भ के चार चरणों की टेक के बाद 'ध्रुवम्' में ('सखि हे · पराने') स्पष्टत. वक्ता-श्रोता के दो पक्षों का संबोधन प्रथम (हम) और मध्यम (तोहें) पुरुष के द्वारा करा दिया गया है। इसे हम निर्द्वन्द्व भाव से सत्या प्रति सुमुखी वचन का दृष्टान्त घोषित करते हैं। यह तो कीर्त्तनियाँ नाटकों की गीतात्मक परिपाटी के अनुरूप ही है। अतः सखि हे' 'तोहें किअ तेजह पराने'—कम-से-कम इस चरण का अन्वय सत्या के पक्ष में करके तीनों ही टीकाकारों ने एक-सी भ्रमावृत्ति की है। इसी में आगे चलकर ७ वें चरण—'(कबहु)...केवल फल अपमाने' का अर्थ भी पीयूषजी ने छोड़ दिया है,६६ जो वांछनीय नहीं।

(३१) अलं दाव जीअ दुव्वलाआसेण। पद १२ के आगे का प्राकृत वक्तव्य 'बस, अब (उसके) जीवन की आशा क्षीण ही है।' किन्तु, इस अर्थ के स्थान पर ग्रियर्सन कहते हैं—'बहुत प्रयत्न हो चुका। उन लोगों के लिए मेरी जिन्दगी अतीव क्षीण है।'६७ यहाँ अनावश्यक अर्थ-विस्तार दीखता है। दूसरे, 'उन लोगों' से यहाँ क्या प्रयोजन है? पीयूषजी ने ले-देकर इसी को लिख दिया 'काफी प्रयत्न किये गये। उन लोगों के लिए मेरी जिन्दगी का कोई महत्त्व नहीं।६८ ऐसे में, बजरंगजी ही कुछ ठीक जँचते हैं—'जीवन के लिए दुर्बल प्रयास व्यर्थ (ही) हैं।'६९

(३२) निसि बासर देओ दुन्दा। पद—१३, चरण-२

इस चरण के अन्तिम शब्द 'दन्दा' में पाठान्तर है। ग्रियर्सन और उनके अनुयायी 'नन्दा' पाठ रखते हैं जब कि चन्दा झा और चेतनाथ झा 'दन्दा' पाठ ही रखना चाहते हैं। अर्थ की दृष्टि से भी 'दन्दा पाठ ही उचित है। 'नन्दा' से 'आनन्द' अर्थ करने पर—जैसा कि ग्रियर्सन, पीयूष और बजरंग वर्मा ने किया ही है—मानिनी की काम दशा के मनोविज्ञान का खण्डन हो जायगा। चूँकि,

६६. पीयूष टीका, पृ० १४९
६७. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १२१
६८. पीयूष-टीका, पृ० १४९
६९ बजरंग-टीका, पृ० ३७

जब एक अर्द्ध-चन्द्र ही मानिनियों के विरह-ताप को द्विगुणित कर देने के लिए पर्याप्त है तो फिर सहस्र पूर्ण चन्द्र के दिन-रात उगे रहने पर उनकी भला क्या दशा होगी ! अतः यहाँ 'चन्दा' पाठ और उसका 'चाँद' अर्थ ही उचित है ।७०

(३३) भरि बरिसओ बिस बहओ दहओ दिस, पद-१३, चरण-३ इस चरण के अर्थापन में भी ग्रियर्सन और उनके अनुयायी पीयूषजी को कठिनाई हुई है। ग्रियर्सन इसके पूर्वार्द्ध का अर्थ करते हैं—'हमारे हृदय को प्रसन्न करता हुआ पूर्ण मेघ बरसता रहे।'७१ इसमें—'हमारे हृदय को प्रसन्न करता हुआ'—ग्रियर्सन साहब की अनर्गल कल्पना है। और, अगला 'पूर्ण मेघ' भी मनगढ़न्त ही है। उक्त 'बरिसओ बिस' का अनुवाद 'पूर्ण मेघ बरसता रहे'—यह कितना भ्रामक है! पीयूषजी ने आँख मूँद कर यही गलती दुहराई है।७२ वस्तुतः 'भरि बरिसओ बिस' का स्वतन्त्र अर्थापन यथा, 'विष की भरपूर वर्षा हो' भी असगत ही है। इसका वास्तविक अन्वय नीचे के 'मलय समीरन मन्द।' से ही सार्थक हो सकता है। अब अर्थ इस प्रकार होगा—'मन्द मन्द बहता हुआ मलय पवन दशों दिशाओं में विष भर-भर कर बरसाता रहे।' मलयानिल से तो मानिनी विरहिणियों का बहिरन्तर दग्ध होता ही है। यहाँ उसी की व्यंजना कवि का तथा कविनिबद्ध पात्र (सत्या) का अभीष्ट ही है। अतः पूर्ण चन्द्र और मलय-मारुत से सज्जित इस वासन्ती वेला में 'पावस के पूर्ण मेघ' की कल्पना ही असंगत है। इस दृष्टि से, 'पारिजात हरण के' तीनों ही टीकाकारों का उक्त अर्थ असाधु बन गया है।

(३४) करओ दहओ दुहु काने। पद १३, चरण-९

इसका अर्थ पीयूषजी ने—'मुझे और भी पीड़ित करना है'७३—किया है जो एकदम गलत है। अर्थ होगा – 'मेरे दोनों कानों को दग्ध करें।'

(३५) सिसिर सुरभि जत देह दहओ तत, पद-१३, चरण-१०।
इसके अर्थापन में पीयूष और बजरंग जी दोनों ने ही गलती की है। पीयूषजी कहते हैं—'शिशिर की सुरभि मुझे खलती है।'७४ पर बजरंगजी को 'सुरभि' में न जाने वसन्त की महँक कहाँ से लग गई कि वह लिख बैठे—'शिशिर (और) बसन्त (भी) (मेरे) शरीर को (जितना चाहे उतना)

७० द्रष्टव्य—प्रस्तुत लेखक का निबन्ध—'पारिजात हरण के विभिन्न संस्करण और पाठ' 'विश्वभारती–९-४

७१. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १२१

७२. पीयूष टीका, पृ० १४९

७३. " "

७४. " "

दग्ध करें।'७५ पर अर्थ होगा—'शिशिर (पवन) जितना ही (शीतल) सुरभित है उससे देह उतनी ही दग्ध होती है।'

(३६) सखीं संज्ञयानिवार्य विज्ञाप्य, पद-१३ के आगे कोष्ठकावृत्त कृष्णचेष्टा कृष्ण मानिनी सत्या के पास आते हैं। तथा, सखी (सुमुखी) को संकेत से रोक कर और सूचित कर प्रिया (सत्या) के चरण-तल को सहलाते हैं। सखी को संकेत से रोकने के इस प्रसंग को ग्रियर्सन साहब इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—('ही कोज़ अप टू हर')७६ ('टू हर कम्पेनियन टू स्टैंड बैक')। पीयूषजी उक्त 'साइनिंग' (संकेत करना) शब्द को भ्रमवश उल्टा 'सिंगिंग' (गाना) पढ़कर अर्थ करते हैं—'(वह उसके पास आकर) सखी के समक्ष गाते समय पीछे खड़े हो जाते हैं।'७७ यह वस्तुत: अनुवादक के घोर प्रमाद का द्योतक है। कोप-काल में गीत-प्रसंग कितना अनर्गल है।

(३७) श्रीकृष्णः—(बद्धाञ्जलिः)—प्रिये प्रसीद। मानिनि, पद-१४ के ऊपर श्रीकृष्ण अपनी मानिनी से हाथ जोड़ कर कहते हैं—'प्रिये, प्रसन्न हो।' इसके आगे केवल एक सम्बोधन है—'मानिनि'। ग्रियर्सन साहब इसे तूल दे देते हैं—'आह! डिसडेनफुल वन!' फिर क्या था, पीयूषजी ने लिख डाला—'ओफ! तुम कैसी हो गयी हो?'७८ निष्कर्षत: पीयूषजी ने अनेक बार पारिजातहरण को छोड़ ग्रियर्सन साहब का ही अनुवाद कर डाला है।

(३८) कान्ते किं तव कञ्चुकं न कुचयोः—श्लोक-११, पंक्ति-१

इसका अर्थ ग्रियर्सन और उनके अनुयायी पीयूष जी दोनों ने ही गलत किया है। ग्रियर्सन कहते हैं—'तुम्हारा शरीर इतना दुर्बल है कि तुम्हारे कोमल कुचों पर कंचुकी दुर्वह बोझ-सी प्रतीत हो रही है।'७९ प्रस्तुत श्लोक में कुच पर कंचुकी का जहाँ अभाव ही कृष्ण की जिज्ञासा का विषय है, वहाँ अनुवादक महोदय ने उसकी झूठी वर्तमानता का कथन करते हुए 'दुर्वह बोझ' की अनावश्यक कल्पना कर ली है। पीयूषजी ग्रियर्सन का भाष्य करते हुए लिखते हैं—'दुर्बलता के कारण तुम्हारे उरोजों पर कंचुकी भी भार हो रही है।८० इसका सीधा अर्थ है—'कान्ते! तुम्हारे उरोजों पर कंचुकी क्यों नहीं है?

(३९) मानिनि मानह जउँ मोर दोसे।
साँति करह बरु न करह रोसे॥ पद-१५, चरण-१,२

७५. बजरंग-टीका, पृ० ३९
७६. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १२२
७७. पीयूष-टीका, पृ० १४९
७८. " "
७९. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १२३
८०. पीयूष-टीका, पृ० १५१

यों तो इस सम्पूर्ण पद का अर्थ ही ग्रियर्सन और पीयूष दोनों के लिये दुरधिगम्य हो गया है पर जहाँ ग्रियर्सन ने कुछ सूझ-बूझ से काम लिया, वहाँ पीयूषजी भयंकर चूककर बैठे हैं। प्रमाण के लिये 'पीन पयोधर' का 'सूखा हुआ पयोधर' अर्थ द्रष्टव्य है। यहाँ क्रम-क्रम से उक्त त्रुटियों को दर्शाया जाता है।

पहले उक्त दो चरणों को लीजिए। ग्रियर्सन लिखते हैं—'हे मानिनी! यदि मेरे कारण ही तुम मर्माहत हुई हो तो मैं तुम्हारी क्षमा दृष्टि की ही याचना करता हूँ, न कि और अधिक रोष की चाहना'।८१ यहाँ पद है—'साँति करह' जिसके 'सान्त करना' ('शान्ति') या 'दण्ड देना' (साँसति—साश्ति)—इन दो अर्थों में से कोई एक ही वाँछनीय है। अतः ग्रियर्सन-कृत 'क्षमा-दृष्टि की याचना' वाला अर्थ ठीक नहीं।

अब पीयूष-कृत अर्थ देखिये—'मानिनि' अर्थात् 'हे मानिनि! 'मानह' अर्थात् 'अब मान जाओ', 'जउँ मोर दोसे' अर्थात् 'मुझे दोषी मत ठहराओ'। 'साँति करह' अर्थात् 'अपने मन को शान्त करो' आदि आदि।८२ यह अर्थ तो बिल्कुल हास्यास्पद है। बजरंग जी ने 'साँति' का 'साँसति' या 'साश्ति' वाला अर्थ रखकर ही 'मुझे दण्ड दो' लिखा है जो आगामी वक्तव्य के अधिक अनुकूल है।

(४०) भौंह कमान विलोकन बाने।
वेधह बिधुमुखि कय समधाने॥ पद—१५, चरण ३, ४

साँग रूपक परक इस सुन्दर पद का अर्थ पीयूष जी ने अत्यन्त विरूप कर दिया है। यहाँ भौंहों में कमान और दृष्टि में वाण का आरोप है। पर, पीयूष जी लिखते हैं—'भौंहों के वाण से'। क्या कमान और वाण में कोई भेद नहीं? उसी तरह नीचे के चरण का शुद्ध अर्थ है—'हे चन्द्र-मुखी! निशाना साधकर (सधान) (मुझे) बेध दो।' पर पीयूष जी के अनुसार—'अपने चन्द्रमुख (के भौंहों के वाण) से मेरे मन को मत बेधो'।८३ इस 'बेध' में 'अबेध' को कौन-सी अतिशयोक्ति कहेंगे।

(४१) पीन पयोधर गिरिवर साधी। पद—१५, चरण—५

इसका अर्थ, जैसा कि पहले ही उदाहरण दिया गया, अति भ्रष्ट है। पीयूष जी लिखते हैं:— 'तुम्हारे सूखे हुए पयोधर गिरि की तरह प्रतीत होते हैं।'८४ यदि 'पीन पयोधर' 'सूखे हुए

८१. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १२३
८२. पीयूष-टीका, पृ० १५१
८३. वही, वही
८४. पीयूष-टीका, पृ० १५१

पयोधर' हों तो वे आखिर 'गिरि की तरह प्रतीत' कैसे हो सकते ! यह प्रतीति तो बालकोचित भी नहीं है।

(४२) की परिनति भव परसनि होही। पद—१५, चरण-७

इसके अर्थापन में ग्रियर्सन ने अटकल से और पीयूष तथा बजरंग जी ने बरजोरी से काम किया है। ग्रियर्सन के अनुसार—'मानिनि ! मेरी विनती स्वीकार करो। अब मुझ पर द्रवित होओ।८५ पीयूष के अनुसार—'तुम्हारे स्पर्श को मन रोमांचित है।'८६ यह स्पर्श-पूर्व का हाल है ! कितना बेतुका अर्थ है ! बजरंग जी के अनुसार—'अथवा (क्रोधावस्था से) परिणत होकर प्रसन्न हो।'८७ यहाँ गरचे बजरंग जी के 'परिणत' का अभिप्राय 'लौट कर' होता है, किन्तु यही अर्थ यथोचित नहीं है। यहाँ 'परिनति' का अर्थ है—'चारों ओर से झुका हुआ।' अर्थात् 'हे मानिनी ! मैं अब (तुम्हारे भय से) चारों ओर से झुक चुका हूँ। अत. प्रसन्न होकर (मेरे सिरोभूषण पर भूषण-तुल्य अपना चरण-कमल हो प्रदान करो)।

(४३) भूखन चरन कमल देह मोही॥ पद—१५, चरण—८

पीयूष जी ने इसका जो अर्थ किया है, उसे देखकर किसी को भी हैरत हो सकती है। वे 'भूखन' (अर्थात् भूषण) को 'भूखा' मानते हुए अर्थ का अनर्थ करते हैं—'मुझ भूखे को अपने चरण-कमल का आश्रय प्रदान करो।'८८

(४४) एहि पर हमर पुरत अभिमाने। पद-१७, चरण-५

मानिनी सत्या कृष्ण से कहती है कि (अभी तुरत मुझे पारिजात वृक्ष लाकर दे दीजिए) इसीसे हमारा अभिमान पूर्ण होगा। पीयूष जी 'अभिमान' का 'अभियान' अर्थ करते हुए कहते हैं—'तभी मेरा अभियान पूर्ण होगा।'८९

आगे चलकर कृष्ण इन्द्रपुरी जाते हुए नारद द्वारा इन्द्र को पारिजात भेजने का सन्देश देते हैं और नारद के चले जाने पर धर्मदास से कहते हैं कि वह प्रात काल हस्तिनापुर जाकर अर्जुन को इन्द्र के विरुद्ध सन्नद्ध होने तथा सुभद्रा (कृष्ण की बहन) को सत्या के आश्वासन के लिए भेज देने का आग्रह करे। धर्मदास 'जो आज्ञा' कहकर यथासमय अपने काम में लग जाता है। इसके तुरत बाद नाटकीय संवाद के कोष्ठक में संस्कृत में लिखा है, जिसका अर्थ है—(तत्पश्चात् सुभद्रा प्रवेश

८५. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १२४
८६. पीयूष-टीका, पृ० १५१
८७. बजरंग-टीका, पृ० ४५
८८. पीयूष-टीका, पृ० १५१
८९. वही पृ० १५२

कर)। निस्सन्देह सुभद्रा-प्रवेश की क्रिया यथाप्रस्तावित अगली सुबह की क्रिया है। किन्तु, यह घटना नाटक के कार्य-व्यापार के नैरन्तर्य में ही घटा दी गयी और नाटककार ने समय-सूचक कोई संकेत नहीं दिया। इसी ओर लक्ष्य करते हुए ग्रियर्सन अपने पद्यानुवाद में कोष्ठक के अन्दर एक संकेतक वक्तव्य देते हैं—'यहाँ यद्यपि रात्रि के व्यतीत हो जाने का स्पष्ट प्रसंग है, किन्तु रंगमंच पर का कार्य व्यापार (बिना इसकी सूचना के) निरन्तर अग्रसर हो रहा है।'९० ग्रियर्सन की इस नाटकीय टिप्पणी पर कुछ टिप्पणी की जाय इसके पूर्व यह आवश्यक है कि पीयूषकृत अनुवाद सुना दिया जाय। पीयूषजी भी कोष्ठक में ही ग्रियर्सन की उक्त टिप्पणी को यों रखते हैं—'यहाँ रात्रि के बीतने की सूचना पर रंगमंच का कार्य चलता रहेगा।'९१ यों तो यह पूरा अनूदित वाक्य ही भ्रष्ट है पर विशेषतः इसका क्रिया रूप देखिये। उमापति ने यदि यहाँ रात्रि के पट परिवर्त्तन की सूचना नहीं दी और हस्तिनापुर से सुभद्रा आकर प्रवेश कर गयी तो इससे उनकी नाट्य-कला या रंग-विधि में कोई बट्टा नहीं लगता। नाटक के क्रिया कलापों के नैरन्तर्य में दिवा-रात्रि के पट-परिवर्त्तनों का न तो कोई अनिवार्य प्रभाव ही पड़ता है और न ही उसकी सूचना देना रंग-निर्देशक के लिये एक आवश्यक शर्त है। सूच्य प्रणाली से भी ये सारे परिवर्त्तन अभिसंज्ञात होते रहते हैं। अतः ग्रियर्सन की वह टिप्पणी पाठकों की सुगमता के हित अंकित है, नाटककार पर किसी बन्दिश के निमित्त नहीं।

(४५) प्रथमहि ओरे कुसुम रचित एक तलपहु।

की अलपहु बिरह बेआकुल छल पहु ॥ पद-१८, चरण-१, २

सत्या के इस सम्पूर्ण विरह-गीत का अर्थ पीयूषजी ने कृष्ण-वियोग के स्थान पर पारिजात-वियोग के सन्दर्भ में अन्वित कर दिया है। इससे पूरे पद का अर्थ-गौरव नष्ट हो गया। वियोग शृङ्गार का यह विरल गीत अपनी इकहरी वेदनानुभूति और प्रियतम के प्रति अपनी उत्कट आत्मीयता के कारण पारिजातहरण के गीत-कुँज का सर्वाधिक सुषमाशाली पुष्प है। इसके अर्थ में अनर्थ करके टीकाकार ने नाटक को मार्मिक क्षति पहुँचायी है। अर्थ होगा—'जो स्वामी पहले कुसुम रचित एक शय्या पर क्षण मात्र के वियोग से भी व्याकुल हो उठते थे (उनके बिना आँखें मेघ सदृश बरस रही है)।' परन्तु, इसके स्थान पर पीयूष जी लिखते हैं—'हे पारिजात वृक्ष! तुम्हारे लिये मैं एक अरसे से ('तलपहु' अर्थात्) तड़पती रही। तुम्हारे विरह में मैं अब तक संतापित थी।'९२

९०. डॉ० ग्रियर्सन की टिप्पणी—'हियर द नाइट इज़ सपोज्ड टु इलैप्स, बट द एक्शन ऑन द स्टेज इज़ कन्टीन्यूअस'।

९१. पीयूष-टीका, पृ० १५३

९२. वही, पृ० १५४

कहाँ यह कृष्ण-वियोग गीत था, कहाँ पीयूषजी ने इसे पारिजात-वियोग गीत बना दिया। आदि से अन्त तक यही भ्रान्ति है।

(४६) सहस तुरग रथ चढ़ल धनुर्धर तनय जयन्तक साथे ॥ पद-१९, चरण-२
ग्रियर्सन ने 'सहस्र घोड़ों से युक्त रथ' के स्थान पर—'रथ, घोड़े और सहस्रों मनुष्य'९३—ऐसा अर्थ कर भ्रमात्मक रूप में विशेषण-विपर्यय कर दिया। और, पीयूषजी ने 'चढ़ल धनुर्धर' के साथ प्रमाद वश तनय जयन्त' का अन्वय करते हुए—'धनुर्धर-पुत्र जयन्त' ९४ अर्थ कर दिया है जो सर्वथा भ्रामक। यहाँ 'सहस तुरग रथ चढ़ल धनुर्धर' यद्यपि अर्जुन के लिए आया जान पड़ता है, तथापि जयन्त के लिये भी उसका अन्वय करने पर वह अर्थ नहीं होगा जो टीकाकार का अभिमत है। वैसे में, 'धनुर्धर' अधिक से-अधिक जयन्त का विशेषण भर होगा।

(४७) ठामहि ठोर ठोकि विनतासुत भाङ्गल दिग्गज दन्ता ॥ पद-१९, चरण ६
इसका अर्थ पीयूष-टीका में अत्यन्त प्रमादपूर्ण है। विनता सुत गरुड़ ने चट ऐरावत के दाँतों को अपने चंचु-प्रहार से तोड़ डाला। इस अर्थ के स्थान पर पीयूषजी लिखते हैं—'ऐसे विकट प्रहारों के कारण इन्द्र को छोड़ ऐरावत भाग खड़ा हुआ।'९५ 'भाङ्गल' का 'भाग खड़ा हुआ' अर्थ कितना हास्यास्पद है।

(४८) सबकों सिव पुनु कयल समञ्जस ..॥ पद-१९, चरण-८
इसका अर्थ है कि इस इन्द्र-कृष्ण-द्वन्द्व के अन्त में शिव ने आकर सबों के बीच सामंजस्य (समझौता) स्थापित कर दिया। पीयूषजी लिखते हैं- '(कृष्ण) सबों की इच्छा पूर्ण कर'...९६ वस्तुतः 'शिव' के स्थान पर 'कृष्ण' अर्थ बड़ा भ्रामक है।

(४९) सब रस जाननिहारा ॥ पद-१९, चरण अन्तिम (१०)
यह वस्तुतः पूर्वपद हिन्दूपति का विशेषण-स्वरूप है। यहाँ कवि का अभिप्राय यह है कि उनके आश्रयदाता हिन्दूपति जो सब राजाओं के महाराज हैं, वे सभी रसों के जानकार ('जाननिहारा') भी हैं।

पीयूषजी ने इस 'जाननिहारा' पद का विग्रह कर (जान+निहारा) 'जान' को 'प्राण' और 'निहारा' को 'निहारना' (देखना) अर्थ में ले लिया है। अब अर्थ जो हुआ, वह यों है—ऐसे को

---

९३. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १२८
९४ पीयूष-टीका, पृ० १५५
९५ पीयूष-टीका, पृ० १५५
९६ वही, वही

सभी प्राणप्रिय समझकर निहारते हैं।'९७ जाहिर है—ऐसे विग्रह से शब्द-भंग ही नहीं होता, अर्थ-भंग भी होता है।

(५०) बामन बेद खेद जनु पाबे। पद-२१, चरण-१

अर्थ है कि ब्राह्मण और वेद-पंथ में कोई व्यवधान न आये। पीयूषजी ने इन दोनों (ब्राह्मण और वेद) को अनुस्यूत कर अर्थ किया है जो ठीक नहीं। उनके अनुसार—'ब्राह्मण वेदधारी हों।'९८ और, इस अन्विनार्थ के लिये ये संभवत ग्रियर्सन के ही ऋणी हैं। क्योंकि, उन्होंने भी 'ब्राह्मणों के वेद' रूप में ही इसका पद्यानुवाद किया है।९९

समासतः पारिजातहरण के प्राय. ये ही सन्दर्भ हैं जिनमें पूर्ववर्ती टीकाकारों ने (पाठ और) अर्थजनित भ्रान्तियाँ की हैं। लगभग तीस पृष्ठों की इस छोटी-सी नाट्य-पुस्तिका में अर्थजनित पचास भ्रान्तियाँ थोड़ी नहीं प्रत्युत पर्याप्त चिन्ता की बातें हैं। वह भी जब कि ग्रियर्सन जैसे मान्य भाषाविदों और बजरंग जी जैसे शोधार्थियों से यह प्रमाद हो गया, तब तो यह निश्चय ही एक गम्भीर समस्या है। अत इन प्रमादों के आलोक में पारिजातहरण का अर्थ-संस्कार आज भी हमारे समक्ष एक करणीय विषय के रूप में शेष है, ऐसा माना जाना चाहिए।

९७. वही, वही
९८ वही, पृ० १५८
९९. ग्रियर्सन-टीका, पृ० १३२

लोकतत्व-अर्थ और विस्तार

विमलेश कान्ति

भारतीय साहित्य में 'लोक' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है। वैयाकरणों का एक वर्ग 'लोक' की व्युत्पत्ति लोक दर्शने धातु में घञ प्रत्यय लगाकर बनाता है, जिसका अर्थ होता है देखने वाला, वहीं वैयाकरणों का दूसरा वर्ग रुक या रोक (चमकना) लोक का मूल रूप मानता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसके विभिन्न रूप वैयाकरणों ने बताये हैं, साथ ही साहित्य में 'लोक' का प्रयोग भी बहु अर्थी है। ऋग्वेद पुरुष सूक्त में लोक शब्द का प्रयोग जीव तथा स्थान दोनों के लिए ही हुआ है।[१] पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में, पतञ्जलि के महाभाष्य में तथा मुनि भरत के नाट्य शास्त्र में लोक शब्द का प्रयोग शास्त्रेतर तथा वेदेतर और सामान्य जन के सम्बन्ध में हुआ है। पाणिनि तथा पतञ्जलि ने अनेक शब्दों की बारबार व्याख्या करते हुए कहा है कि वेद में इस शब्द का प्रयोग इस रूप में है तथा लोक में भिन्न इस प्रकार का। स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में वेद परिपाटी तथा लोक परिपाटी बन गई थी। लोक परिपाटी का तात्पर्य लोक में अथवा साधारण जनवर्ग में प्रचलित परिपाटी से है। गीता में लोक से इतर वेद की सत्ता स्वीकार भी की गई है। गीता में प्रयुक्त लोक संग्रह शब्द का तात्पर्य भी साधारण जनता के आचरण व्यवहार तथा आदर्श से है। प्राकृत तथा अपभ्रंश के लोक जनता तथा लोक अप्पवाय शब्द भी साधारण जनता की ओर ही संकेत करते हैं।

संस्कृत साहित्य में ही नहीं, हिन्दी में भी लोक शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। हिन्दी सन्त साहित्य में कहीं तो लोक का प्रयोग मृत्युलोक तथा पृथ्वी के सम्बन्ध में है, कहीं लोक का प्रयोग सारे ससार के अर्थ में भी व्यापक रूप से किया गया है—'नाव मेरी डूबी रे माई, ताते चढ़ी लोक बड़ाई', कहीं लोक शब्द वेद के प्रतिकूल लोक-परम्परा का अर्थ देता है। इस अर्थ में लोक शब्द का प्रयोग सन्त साहित्य में बहुत बार हुआ है।[२] कबीर लोक को लोक वेद की परम्परा में बहता हुआ मानते हैं और सतगुरु को ही उद्धारक कहते हैं—पीछे लागा जाई था, लोक वेद के साथ। आगे से सतगुरु मिला दीपक दीया हाथि॥ कबीर लोक वेद दोनों से मुक्त होने पर ही शून्य में समाहित होना मानते हैं। कहीं-कहीं स्पष्टतः जनसाधारण तथा लोक समाज के ही अर्थ में लोक का प्रयोग हुआ है—लोक बोल इकताई हो। सन्तों के लोकलाज, लोकाचार आदि शब्दों में प्रयुक्त लोक का सम्बन्ध जनसाधारण से ही है।

---

१. ऋग्वेद ३।५३।१२ २. ओमप्रकाश शर्मा—हिन्दी सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि (अप्रकाशित)

हिन्दी सगुण भक्ति साहित्य में भी लोक शब्द सामान्यतया उपर्युक्त अर्थों का ही बोधक है। तुलसी साहित्य में लोक शब्द का प्रयोग स्थान अर्थ में भी हुआ है—लोक बिसोक बनाइ बसाए।३ लोक शब्द का प्रयोग पृथ्वी लोक के अर्थ में भी किया गया है।४ स्थानवाची प्रयोगों के अतिरिक्त लोक का प्रयोग वेद परिपाटी के विपरीत लोक परिपाटी अर्थात् साधारण जनवर्ग की परिपाटी के सम्बन्ध में भी अनेक बार हुआ है। तुलसी योग्य स्वामी की रीति बताते हुए कहते हैं—लोकहुँ वेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनत पहिचानत प्रीती॥५ इसी प्रकार वेद की तुलना में लोक का प्रयोग अनेक बार हुआ है।६ तुलसी ने लोक रीति या लोक परिपाटी का महत्व वेद परिपाटी के समान ही माना, इसीलिए उन्होंने कहा है—

शशि गुरु तिय गामी नहुष चढ़ेउ भूमिसुर यान।
लोक वेद से पतित भा नीच को वेनु समान॥७

सूरदास ने भी लोक शब्द का प्रयोग वेद से भिन्न जनसाधारण में प्रचलित रीति के सन्दर्भ में किया है। प्रयोग है—नन्द नन्दन के नेह मेह जिन लोक लीक लोपी। लोक वेद प्रतिहार पहरुआ तिनहूँ पै राख्यो न पर्‌यो री। यहाँ लोक लीक का तात्पर्य जन सामान्य में प्रचलित रीति से ही है।

भारतेन्दु युगीन काव्य में भी लोक शब्द बहुत बार प्रयुक्त हुआ है और वहाँ भी उसका सम्बन्ध सामान्यतया जनसाधारण में प्रचलित रीति से ही है। भारतेन्दु ने लोक लाज, लोक मर्यादा, लोक रीति का प्रयोग अनन्त बार किया है और वहाँ तात्पर्य भी जनवर्ग की मर्यादा और रीति से ही है। लोक का प्रयोग सामान्य जनसमूह के अर्थ में भी कुछ स्थानों पर हुआ है। उदाहरणार्थ—

ब्रह्मवाद को कबहुँ बहुत विधि साधन करहीं।
लोक सिखावन हेतु कबहुँ सन्ध्या अनुसरहीं॥८

× × ×

शुद्र ललना लोक उद्धरन समर्थ, गोपिकाधीश कृत अंगिकारी।
वल्लभी कुल मनुज अंगिकृत जनन पै धरन मर्याद बहु कष्टधारी॥९

३. रा० च० मा० १।५२।२,
४ वही १।१९।१,
५ वही १।२७।३,
६. वही १।२।३
७. रा० च० मा० २।२२८
८. भा० ग्र० पृ० ६४७
९. वही पृ० ७१४

प्रेमघन ने भी लोक का प्रयोग जनसमूह के अर्थ में किया है—'तुमहिं असंख्य लोक रंजन तुमहीं अधिनायक।'१० वेद परिपाटी या शास्त्रीय रीति के विरुद्ध वेद के साथ लोक शब्द का प्रयोग भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन आदि सभी कवियों ने किया है।

इस प्रकार भारतीय साहित्य में 'लोक' के विभिन्न प्रयोग मिलते हैं। कहीं लोक शब्द इहलोक, परलोक, सप्तलोक आदि शब्दों की व्याख्या करते हुए स्थानवाची अर्थ प्रस्तुत करता है, कहीं वेद परिपाटी और लोक परिपाटी के रूपमें, नाट्य धर्मी और लोक धर्मी रूप में प्रयुक्त होकर शास्त्रेतर जनता में प्रचलित तथा इससे सम्पर्कित अर्थ देता है, तो कहीं लोक शब्द का अर्थ जन सामान्य ही सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रयोग की दृष्टि से भी लोक शब्द का भारतीय साहित्य में विविध अर्थों में प्रयोग है।

'लोक' का पश्चिमी विद्वानों ने क्या अर्थ समझा है इस पर भी विचार करना होगा, क्योंकि लोकतत्व के सन्दर्भ में लोक का जो विशेष अर्थ लिया जाता है उसका मुख्य सम्बन्ध पाश्चात्य विचारधारा से है। आज हम वेद से भिन्न समस्त साहित्य को लोक साहित्य नहीं कह देते हैं। लोक साहित्य में प्रयुक्त लोक से विभिन्न अर्थ अभीष्ट है। लोक साहित्य अंग्रेजी शब्द 'फोक लिटरेचर' का शाब्दिक अनुवाद है। फोक के लिए लोक तथा लिटरेचर के लिए साहित्य शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार फोक और लोक पर्यायवाची हैं। अवधेय है कि लोक का जो अर्थ है वह बिलकुल फोक का नहीं है। यही कारण है कि आज विद्वानों में फोक के लिए कौन हिन्दी शब्द नियत किया जाय, इस पर अच्छा-खासा विवाद उठ खड़ा हुआ है। रामनरेश त्रिपाठी फोक के लिए 'ग्राम' शब्द उपयुक्त मानते हैं, तो कोई 'जन' शब्द तो कोई फोक के लिए 'लोक' को संगत समझते हैं। यदि भारतीय शब्द 'लोक' तथा पश्चिमी शब्द 'फोक' एक ही अर्थ रखते होते तो नामकरण में इतना वैभिन्य होना सम्भव नहीं था।

पश्चिमी फोक शब्द की व्युत्पत्ति ऐंग्लो सैक्शन शब्द फोक (Folc) से मानी जाती है। फोक शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ० बार्कर ने लिखा है कि 'फोक' से सभ्यता से दूर रहने वाली किसी पूरी जाति का बोध होता है, परन्तु यदि इसका विस्तृत अर्थ लिया जाय तो सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोग इस नाम से पुकारे जा सकते हैं। किन्तु, जब फोक का प्रयोग वार्ता, नृत्य, संगीत आदि से युक्त होकर होता है तो यहाँ तात्पर्य उस लोक समाज से ही होता है, जिसके पास संस्कृति की किरणें आज भी नहीं पहुँची हैं, जो अर्द्ध सभ्य या असभ्य है जो अशिक्षित ग्रामीण और देहाती है।

१०. प्रे० सर्व० पृ० २३६

हिन्दी में लोक तत्व के लिए लोक वार्ता शब्द का प्रयोग चल पड़ा है जो फोक लोर शब्द का रूपान्तर है। फोक लोर शब्द का निर्माण जान टामस ने १८४६ ई० 'पापुलर ऐन्टीक्विटीज़' के लिए किया था। इसका प्रयोग उन सभी मौखिक परम्पराओं के रूप में होता था, जिसके अन्तर्गत लोक कथाओं, लोक गीतों, मुहावरों, लोक विश्वासों और सभी प्रकार की लोक गाथाओं का समावेश था।

लोक वार्ता एक व्यापक शब्द है और इसके अन्तर्गत उन समस्त अभिव्यक्तियों का समावेश हो सकता है जो लोक संभूत हैं। थियोडोर एच० गैस्टर ने कहा भी है कि इसके अन्तर्गत उन समस्त तत्वों या साहित्यों का समावेश होता है जो लोक के हैं, जनता के हैं, जनता के लिए हैं और जनता द्वारा लिखे गए हैं। अतः लोक साहित्य में वह समस्त साहित्य आयेगा जो लोक का है, लोक के लिए है और लोक द्वारा संभूत है। किन्तु, आज फोक लोर शब्द का प्रयोग उन विशिष्ट पिछड़ी हुई जाति के तत्वों के संदर्भ में किया जाता है जो आज सभ्य समाज में मिलते हैं।

लोक वार्ता शास्त्रियों का मत है कि प्रत्येक समाज में दो वर्ग होते हैं —(१) सुसंस्कृत या सभ्य वर्ग, (२) निम्न या अशिक्षित ग्रामीण वर्ग। यह अशिक्षित ग्रामीण वर्ग में अनेक अन्धविश्वास परम्पराएँ, किंवदन्तियाँ, नृत्य आदि प्रचलित होते हैं। सुसंस्कृत समाज में मिलने वाले इन्हीं असभ्य विश्वासों, परम्पराओं, लोकोक्तियों, मुहावरों, कथाओं को लोक वार्ता शास्त्र की सामग्री समझा जाता है।

एक ऐसे प्रदेश की संस्कृति, जिसमें शिक्षा की किरणें आज तक नहीं पहुँच पाई है, नागरिक या सभ्य संस्कृति के प्रवाह से जो बिलकुल अछूती हैं, लेखन कला का जिसे आज तक ज्ञान नहीं हुआ है, केवल मौखिक रूप से ही जिस संस्कृति में भावों का आदान-प्रदान होता है, उसकी समस्त अभिव्यक्तियाँ लोक वार्ता का विषय होंगी, किन्तु स्टिप थाम्पसन का कहना है कि शिक्षित समाज की भी वे अभिव्यक्तियाँ लोकवार्ता के क्षेत्र में आयेंगी, जिनमें परम्परा का तत्व विद्यमान है यद्यपि वे असभ्य समाज की नहीं हैं। स्पष्ट है थामसन ने परम्परा का तत्व फोक लोर की एक बहुत बड़ी विशेषता मानी है[2] यहाँ परम्परा का तत्व लोकवार्ता और परिनिष्ठित साहित्य की मुख्य विभाजक रेखा बनता है। परिनिष्ठित साहित्य में परम्परागत तत्व कम होते हैं। उनमें स्थान और समय के अनुसार नये तत्वों का बराबर समावेश होता रहता है, किन्तु लोकवार्ता में यह परम्परा का तत्व पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता है। परिनिष्ठित साहित्य में बौद्धिकता का प्राधान्य रहता है, हर वस्तु तर्क की तुला पर तौली जाती है तब परिनिष्ठित साहित्य में वह गृहीत होती है, किन्तु लोक समाज परम्परागत तत्वों में बिना छिद्रान्वेषण किए उन तत्वों को ज्यों का त्यों लेता जाता है। उसे इसकी चिन्ता नहीं कि इन लोकानुष्ठानों या लोक विश्वासों में कोई तथ्य है भी या नहीं। वह

उन्हें यथावत ले लेता है। तर्क उसके पास केवल एक है कि उसके पूर्वजों ने, दादा नाना ने उन्हें अपनाया था, उनका पालन किया था वह उसे क्यों छोड़ दे। यदि वह व्यर्थ ही होता तो उसके दादा नाना ने ही क्यों अपने पूर्वजों से दाय में लिया होता? चूँकि दादा नाना ने अपने पूर्वजों की इस लोक सम्पत्ति को स्वीकार किया था अतः उसे भी ज्यों का त्यों ले लेना चाहिये, क्योंकि यदि वह उन्हें तथावत ग्रहण नहीं करता तो अनिष्ट की आशंका है। एक उदाहरण लीजिये दिशाशूल सम्बन्धी लोक विश्वास का 'सोम पुरब दिसि उतर न चालू। लोक का विश्वास है कि सोमवार को पूर्व और उत्तर दिशा की यात्रा नहीं करनी चाहिये। यह लोक विश्वास आज भी अपढ़, गँवार समाज में ज्यों का त्यों चला आ रहा है। नगर का एक सुसभ्य नागरिक चाहे इसका उलघन कर भी ले, किन्तु ग्रामीण नागरिक इस विश्वास का उलंघन नहीं ही कर सकता। उसका तो दृढ़ विश्वास है कि सोमवार को उत्तर और पूर्व की ओर नहीं जाना चाहिये। यही कारण है कि आज यदि उसको कोई आवश्यक कार्य से सोमवार को पूरब या उत्तर जाना हो, तो वह अनिष्ट की अशंका से सहम उठता है। उसके पैर रुक जाते हैं और वह यात्रा को टालने का प्रयत्न करता है, किन्तु यदि उसे यात्रा करनी ही है तो वह ईश्वर को बराबर मनाता हुआ जाएगा कि वह अनिष्ट से रक्षा करे। यह है अखण्ड विश्वास लोक का जिसे उसने परम्परा से अपनाया है। परिनिष्ठित साहित्य में यही तत्व कम हो जाते हैं और जितना ही अधिक साहित्य परिनिष्ठत होगा, उसमें उतने ही कम लोकतत्व मिलेंगे। 'मानव विकास सम्बन्धी आधुनिकतम शोधों से सिद्ध है कि आज की सस्कृति एवं सभ्य मानव का उद्गम स्थल उस असंस्कृत असभ्य और बर्बर जातियों में ही है जिस बर्बरावस्था में आज भी कुछ जंगली जातियाँ विद्यमान हैं। उस आदिम बर्बर असंस्कृत समुदायों के अनेक ऐसे रीति-रिवाज, प्रथाएँ, विश्वास, अनुष्ठान आज भी विकसित मानव परम्परा से होते हुए चले आए हैं, क्योंकि आज का सुसभ्य मानव भी तो उस बर्बरावस्था से विकसित हुआ मानव ही तो है। ऐसे आदिम तथा अवशिष्ट मानव में पाये जाने वाले रीति रिवाज प्रथाएँ अनुष्ठान ही लोक वार्ता के विषय हैं। व्यापकतम अर्थ में लोकवार्त्ता के अन्तर्गत वे समस्त परम्परागत विश्वास और रीति रिवाज आएँगे जो मानव समूहगत हैं और जिन पर किसी व्यक्ति का प्रभाव नहीं दिखाया जा सकता।

इस प्रकार आदिम मानव के ये तत्व आज के मानव में भी न्यूनाधिक मात्रा में शेष हैं, क्योंकि सभी का विकास एक ही स्थिति से हुआ है और इसी प्रकार ये तत्व परिनिष्ठित साहित्य में भी मिल जाते हैं, यद्यपि इनमें परम्परा का तत्व अपेक्षाकृत कम होता है। आधुनिक समाज में लोक संस्कृति को नागरिक संस्कृति से भिन्न करने वाला यह तत्व परम्परा का ही लोकतत्व है, जो

अनुष्ठान और प्रथाओं आदि को जन्म देता है अथवा यों कहें कि सभ्य समाज में मिलने वाले ये अनुष्ठान और प्रथाओं आदि के परम्परागत तत्व ही है जो लोक संस्कृति की स्थिति की सूचना देते हैं। इस प्रकार लोक वार्ता में परम्परा का तत्व बहुत प्रमुख है। लोक वार्त्ता में आदिम मानव की सीधी और सच्ची अभिव्यक्ति मिलती है।

पश्चिमीय विद्वानों की इन उपरोक्त लोकवार्त्ता सम्बन्धी परिभाषाओं और विचारों को देखने से ज्ञात होता है कि लोक का अर्थ अधिकांश विद्वानों ने आदिम मानव या असभ्य ग्रामीण मानव से सम्बन्धित तत्वों के सदर्भ में किया है और लोकवार्ता के लिये परम्परात्मकता और मौखिकता मुख्य विशेषता मानी है।

भारतीय तथा पश्चिमी 'लोक' सम्बन्धी व्याख्याएँ देखने से स्पष्ट है कि दोनों में काफी मतभेद है। भारतीय आचार्यों के अनुसार शास्त्रेतर या वेदेतर सभी कुछ लौकिक है, या जनवर्ग या साधारण जन में जो कुछ है वह सब लोक का है। ऋगवेद का "जन" का साधारण जन के अर्थ में प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु वहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया है, कि यह जन निरा ग्रामीण है, असभ्य है अथवा नहीं। आदिम मानव के उसमें अवशेष हैं या नहीं। लोक शब्द की व्याख्या डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने भी 'जनपद' में की है जो पश्चिमी विचारधारा से पर्याप्त समानता रखती है—"लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि गाँव और नगरों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि सम्पन्न लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।"

डा० कुञ्जबिहारीदास की लोकगीत सम्बन्धी व्याख्या देखने से ज्ञात होता है कि सुसंस्कृत और सुसभ्य प्रभावों से बाहर रहकर कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में रहने वाले व्यक्ति ही "लोक' जाति के अन्तर्गत परिगणित होते हैं।

पश्चिमी और भारतीय लोक सम्बन्धी विचारधाराओं को देखते हुए हम कह सकते हैं कि लोक से हमारा तात्पर्य उस समाज से है जो शास्त्रीयता और पाण्डित्य से अस्पष्ट है, जिसे नागरिक संस्कृति ने प्रभावित नहीं किया है, जो अपढ़ और ग्रामीण है जिसमें कृत्रिमता नहीं है और जो आदिम संस्कृति के परम्परागत तत्वों को वहन किए हुए है। ऐसे लोक समाज की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं वे लोकतत्व कहलाते हैं।

लोकतत्व का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। जैसा कि मेरेट ने इसके क्षेत्र के विषय में व्याख्या करते हुए लिखा है—"इसके अन्तर्गत उस समस्त जन संस्कृति का समावेश माना जा सकता है जो पौरोहित्य धर्म तथा इतिहास में परिणति नहीं पा सकी है जो सदा स्वयंसंवर्द्धित रही है।" इस

प्रकार लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत आनेवाली समस्त अभिव्यक्तियाँ लोकतत्व युक्त होंगी। सोफिया बर्न ने लोकवार्ता का क्षेत्र निम्न वर्गों द्वारा स्पष्ट किया है—

(१) लोक विश्वास और अन्ध परम्पराएँ, (२) रीति रिवाज तथा प्रथाएँ, (३) लोक साहित्य

सोफिया बर्न का कहना है कि 'यह एक जाति बोधक शब्द की भाँति प्रतिष्ठित हो गया है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत के सम्बन्ध में, मानव स्वभाव तथा मानव कृत पदार्थों के सम्बन्ध में, भूत प्रेत की दुनिया तथा उसके मनुष्य के सम्बन्ध के विषय में जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, ताबीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मनुष्यों के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं और इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति रिवाज, अनुष्ठान तथा त्यौहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य व्यवसाय पशुपालन आदि के भी रीति रिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं तथा धर्म गाथाएँ, अवदान, लोक कहानियाँ, साने गीत, किंवदन्तियाँ पहेलियाँ तथा लोरियाँ इसके विषय हैं। संक्षेप में लोक की मानसिक सम्पन्नता के अंतर्गत जो भी वस्तु आ सकती है सभी इसके क्षेत्र में हैं। यह किसान के हल की आकृति नहीं जो लोक वार्त्ताकार को अपनी ओर आकृष्ट करती है, किन्तु वे उपचार तथा अनुष्ठान हैं जो किसान हल को भूमि जोतने के समय करता है। जाल अथवा वंशी की बनावट नहीं वरन् वे टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता है, पुल अथवा निवास का निर्माण नहीं वरन् वह बलि है जो इसको बनाते समय की जाती है और उसके उपयोग में लाने वालों के विश्वास। लोक वार्त्ता वस्तुत आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है वह चाहे दर्शन धर्म, विज्ञान तथा औषधि के क्षेत्र में हुई हो चाहे सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में अथवा विशेषन· इतिहास तथा काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में।[१२]

इस प्रकार लोक वार्त्ता या लोक तत्व का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इन लोक तत्वों के ही माध्यम से हम जनता के सुख दुख, उसके हर्ष विषाद का उसकी अनुभूतियों का दर्शन करते हैं, जन संस्कृति और लोक संस्कृति का अनुमान लगा पाते हैं। इन लोक तत्वों में जन साधारण का स्वर है। लोक तत्व हमारे जीवन से कोई बहुत दूर नहीं है। वह हमारे अत्यन्त निकट है, इसलिए नहीं कि वे आज के हैं वरन् इसलिए जैसा कि लेनिन ने उचित ही कहा था लोक वार्त्ता जन की आशाओं और आत्मभावों से संबंधित सामग्री है। यही कारण है कि लोक तत्व एक देशीय और एक कालिक न होकर सर्वदेशीय और सार्वकालिक बन गए हैं।

---

१२. बर्न : हैण्ड बुक आफ फोक लोर—डा० सत्येन्द्र द्वारा अनूदित, ब्रज लोक साहित्य में उद्धृत पृ० ४-५

गोपालराम गहमरी के उपन्यासों में पारिवारिक रचना-शिल्प

रवीन्द्र धीमान

गोपालराम गहमरी तथा उनके समकालीन अधिकांश लेखकों द्वारा रचित औपन्यासिक साहित्य सही अर्थों में उपन्यास की परिधि में नहीं आता। ये औपन्यासिक कृतियाँ या तो गार्हस्थ्य कथाएँ हैं, सांसारिक वार्ताएँ हैं, मन बहलाने की गुटिकाएँ हैं, आश्चर्य अथवा रहस्य रोमांच-पूर्ण वृत्तान्त हैं, ऐतिहासिक विवरण हैं अथवा उपदेश प्रधान पोथियाँ हैं। बाहरी सजधज अथवा शिल्प पक्ष की दृष्टि से यह कृत्तियाँ अत्यन्त दरिद्र, अप्रौढ़ अपरिष्कृत तथा 'असंस्कृत' हैं। इस काल का लेखक जान-बूझकर शिल्प पक्ष के प्रति उदासीन नहीं था। उसकी सीमाएँ उपन्यास के शैशव-काल के लेखक की सीमाएँ हैं, पाठकवर्ग की ग्रहणशीलता की सीमाएँ हैं। युगीन अनिवार्यताओं को ध्यान में रखते हुए इन उपन्यासकारों ने सरल सुबोध तथा सरल ग्राह्य ढंग से कम हिन्दी पढ़े-लिखे पाठकों तक अपनी बाते पहुँचाने की चेष्टा की। अपने रचना गठन अथवा वर्णन कौशल में सुधि, सुहृद तथा अबोध पाठकों को उलझाना उनका उद्देश्य नहीं था।

शिल्पगत अप्रौढ़ता, अपरिपक्वता तथा अनगढ़ता की स्पष्ट रेखाएँ गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों में भी देखी जा सकती है। उनके पारिवारिक उपन्यासों के कथानक ढीलेढाले, अस्त-व्यस्त, तारतम्य रहित तथा विस्तार प्रधान हैं (उनके जासूसी उपन्यास इसके अपवाद हैं, जिनके कथानक रोचक, सुरुचि-सम्पन्न कुतूहलवर्धक, रहस्यपूर्ण, सुगठित तथा शृङ्खलाबद्ध हैं), चरित्र-चित्रण पूर्वाग्रह मण्डित तथा दो ध्रुवों की दूरी लिए हुए हैं, पर्यावरण विधान उपेक्षित तथा कहीं-कहीं अप्रासंगिक है। इसी प्रकार कई अन्य छिटपुट त्रुटियों का सम्बन्ध भी गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों से जोड़ा जा सकता है, परन्तु गहराई से देखने पर गहमरी का एक अन्य उज्ज्वल पहलू भी दिखाई देता है जो उन्हें समकालीन लेखकों से बहुत ऊँचा उठा देता है। इस उज्ज्वल पक्ष का सम्बन्ध भी गहमरी के शिल्प-पक्ष से ही है। भाषा की रंगीनी, तड़कभड़क तथा संवादों के चुटीलेपन की दृष्टि से गहमरी काफी मँजे हुए खिलाड़ी तथा घुटे हुए प्रयोगवादी लेखक हैं। परन्तु यह रंगीनी गिने-चुने स्थलों पर ही अपना प्रकाश विकीर्ण करती है। गहमरी का शिल्प-पक्ष का समग्र प्रभाव शैशवकालीन दोषों से मुक्त नहीं हो सका है। उन्होंने सुन्दर शब्द-चयन, सुगठित वाक्य-योजना के नए नए प्रयोग तो किए हैं, परन्तु अन्य स्थलों पर उनकी शिल्प-गत अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती दिखाई देती है। समकालीन परिस्थितियाँ ही बहुत हद तक इसके लिए उत्तरदायी हैं। गहमरी तथा उनके समकालीन अधिकांश लेखकों का उद्देश्य वास्तव में शिल्प-पक्ष को तराशना-

संवारना नहीं था। उन्हें तो धार्मिक-नैतिक तथा आध्यात्मिक उपदेश किसी मनोरंजक माध्यम से पाठकों तक पहुँचाने थे। इसके लिए उन्होंने उपन्यास को उपकरण तो बना लिया परन्तु उपन्यास की पूर्व परम्परा के अभाव में वे टैक्नीक से पूरी तरह परिचित न हो सके। उनके सभी उपन्यासों में उनके प्रचारक का स्वर अत्यन्त प्रबल रहा है तथा छात्रों के घटाटोप में भी उसे स्पष्ट सुना जा सकता है। अन्त में हम कहेंगे कि जहाँ एक ओर गहमरी के पारिवारिक उपन्यास शिल्प की अप्रौढ़ता के दोषी हैं, वहाँ दूसरी ओर उनमें शिल्प के नवीन तथा प्रभावशाली आयाम भी उभरे हैं।

अब हम सक्षेप में गहमरी के शिल्पकार को उसके समग्र गुण-दोषों सहित उरेहने का प्रयास करेंगे। शिल्प-पक्ष का आधार-स्तम्भ होने के कारण हम सर्वप्रथम गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों के कथागठन को लेंगे।

(क) कथागठन

गोपालराम गहमरी ने अपने पारिवारिक उपन्यासों के कथानक अपने आस-पास के सामाजिक परिवेश से चुने हैं। उन्होंने कई स्थानों पर यह दावा किया है कि ये उपन्यास सत्य घटनाओं अथवा लेखक के अनुभूत सत्यों पर आधारित हैं। उनके उपन्यासों में आए कानपुर, इलाहाबाद, कलकत्ता, गाजीपुर, सैदपुर तथा शेरपुर आदि नाम उनके उपर्युक्त दावे की पुष्टि करते हैं। उनके उपन्यासों के वर्ण्य विषय की प्रामाणिकता तथा विश्वसनीयता का एक अन्य प्रमाण यह है कि उनके पाँचों पारिवारिक उपन्यासों के कथानक निम्न-मध्य-वर्गीय ब्राह्मण परिवारों के जीवन पर आधारित हैं। लगता है गहमरी इन्हीं परिवारों के अभिन्न अंग रहे होंगे अथवा अवश्य ही ये परिवार उनकी अन्तरंग परिचय भूमि रहे होंगे।

यह एक अत्यन्त विरोधाभासपूर्ण स्थिति है कि गहमरी जासूसी उपन्यासों के कथागठन में जितने सफल रहे हैं, पारिवारिक उपन्यासों के प्रसग में उतने हो असफल। उनके पारिक उपन्यासों की सबसे बड़ी त्रुटि यह रही है कि उनका विषय वस्तु चयन बड़ा ही त्रुटिपूर्ण है। उनके उपन्यास (पारिवारिक) कई अनियमित, विश्रृङ्खलित तथा असम्बद्ध घटनाओं के पुंज से लगते हैं। लगता है लेखक ने घटनाओं को तराशने, संवारने की कोई जरूरत नहीं समझी। किन्तु इस बात से यह अनुमान लगाना सर्वथा भ्रामक होगा कि गहमरी असफल पारिवारिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने अपने पाठकों की रुचि के लिए (जिनमें अधिकांश कम पढ़ो-लिखी सद्गृहिणियाँ, भले घरों की लड़कियाँ थीं) ही इस प्रकार के अनगढ़ शिल्प का प्रश्रय लिया है। उन्होंने सहज जीवन की अभिव्यक्ति बिल्कुल नये ढंग से सरल ग्राह्य कथानकों के माध्यम से की है और जहां कहीं कथानक में स्वभावतया कोई नाटकीय मोड़ आने लगा है तथा अबोध पाठक कथाचक्र की भूलभुलैयों में उलझता जान पड़ा है, गहमरी फौरन उसकी सहायता के लिए आगे आए हैं।

गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों के कथागठन की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

१—कथानक को बात की बात में पाँच सात वर्ष आगे धकेल देना ('बड़ा भाई १०७' तथा गृहलक्ष्मी' २६)।

२—कथासूत्र जोड़ने की विचित्र पूर्वदीप्ति (फ्लैश बैक) शैली ('देवरानी जेठानी' १३७, ''गृहलक्ष्मी ६८, १४४, १५१, 'बड़ा भाई' ९६ तथा तीन पतोहू १४४)।

३—कथा कहने का मोह छोड़कर विषयांतर कर जाना ('देवरानी जेठानी' ५२, १७४-१७६ तथा बड़ा भाई ४०)।

४—कथाप्रवाहको बीच बीच में रोक कर पाठक-पाठिकाओं को प्रबोध देते चलना (पाचों उपन्यासों में लगभग १०८ प्रबोध दिए गए हैं)।

५—कथानक को शीर्षकों—'उपशीर्षकों' (बयानों, परिच्छेदों, अध्यायों, खण्डों तथा भागों) में बांटना। यह पद्धति अंग्रेजी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों की भी एक शैशवकालीन विशेषता रही है।

६—कथानक जहाँ से प्रारम्भ किया है उसको अन्त में लगभग उसी स्थिति में ला पटकने की अवैज्ञानिक हठधर्मिता। यहाँ लेखक का आदर्शवादी तथा नैतिकतावादी दृष्टिकोण काफी स्पष्ट हो जाता है।

७—उपन्यासों के प्रारम्भ आधुनिक हैं परन्तु उनके अन्त अत्यन्त प्राचीन तथा मंगलकामनापूर्ण यथा जैसे पांडेजी की सुख श्री फिरी वैसे ईश्वर सबकी फेरें।[1]

८—कथातन्त्र ढीले ढाले, सामान्य पारिवारिक घटनाओं पर आधारित तथा एक बधे बंधाए ढर्रे पर चलते हैं। इनमें विविधता का अभाव है। लगता है एक ही परिवार को विभिन्न परिस्थितियों के कठघरे में डाल कर उसे विभिन्न कोणों से चित्रित किया गया है।

गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों के कथागठन की जिन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख हमने ऊपर किया है प्रकारांतर में येही विशेषतायँ गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों की प्रमुख त्रुटियाँ भी कही जा सकती हैं। गहमरी के समकालीन लेखक भी इन त्रुटियों के भागीदार रहे हैं परन्तु कई व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण गहमरी अन्य सभी लेखकों से आगे निकल जाते हैं। इसका मूलकारण है गहमरी में प्रयोग करने की दुर्दमनीय क्षुधा। गहमरी अपने समकालीन लेखकों में प्रयोगवादी लेखक रहे होंगे यह बात निःसन्देह सत्य है। कई विद्वान आलोचकों ने गहमरी के भाषागत प्रयोगों को उनकी लोकप्रियता का मूल कारण बताया है। परन्तु जहाँ तक कथागठन का सम्बन्ध है गहमरी बिल्कुल परम्रावादी कहे जा सकते हैं। उन्होंने कथागठन में नए प्रयोग करके इसे अधिक

१. देवरानी जेठानी, पृष्ठ १९२।

कुरुप तथा कुरुचिपूर्ण बना दिया है। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उनके जासूसी उपन्यासों के कथानक इसके अपवाद हैं। कथानक की कुरुपता का दोष उनके पारिवारिक उपन्यासों के कथानकों पर ही लगता है।

(ख) चरित्र चित्रण :—गहमरी अपने पारिवारिक उपन्यासों के शिल्प पक्ष के प्रति भले ही उदासीन रहे हों परन्तु उनका यह पक्ष अनायास तथा अनजाने ही काफी बन-संवर गया है। उनके उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की लगभग सभी विधियों का उपयोग हुआ है। डा० रणवीर रांगा इस दृष्टि से उन्हें देवकीनन्दन खत्री से आगे मानते हैं :—

यद्यपि पात्रों का चरित्रचित्रण गहमरीजी के उपन्यासों में भी मुख्य रूप से न होकर अनुषांगिक रूप से ही हुआ है, तो भी देवकीनन्दन खत्री की अपेक्षा इनकी प्रवृत्ति इस ओर अधिक रही है।'२

गहमरी के चरित्र चित्रण की अपनी ही विशेषताएँ हैं। इन्होने अपने सम्पूर्ण पात्र-समुदाय को दो कोटियों में बांट लिया है। एक वर्ग के पात्र सज्जनता तथा दूसरे दुर्जनता के प्रतीक हैं। उनके उपन्यासों में ऐसा कोई भी पात्र नहीं मिलता, जो सज्जनता तथा दुर्जनता दोनों का प्रतीक हो।

मानव इतिहास हमें बताता है कि बड़े बड़े महात्मा भी दुराचारी, कुपथगामी हुए हैं और बड़े बड़े दानव अपनी दुष्टता त्याग कर सवेदनशील बने हैं। महानतम चरित्र में एकाध कमजोरी तथा दुष्टतम चरित्र में कोई न कोई महानता जरूर छिपी रहती है। परन्तु गहमरी के पात्रों पर मानव स्वभाव के यह सभी नियम लागू नहीं होते। इनके पात्र या तो देवत्व के अथवा दानवत्व के प्रतीक हैं। प्रारम्भिक अंग्रेजी उपन्यासकारों में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान थी। बनियन के 'मि० क्रिश्चियन' तथा 'मि० बैडमैन' इसके स्पष्ट उदाहरण है।३

(1) पात्रों की दो विरोधी कोटियाँ तथा गहमरी का पक्षपातपूर्ण उपचार :

गहमरी के सज्जनपात्र भद्र, कुलीन, श्रेष्ठ-गुण-सम्पन्न, सदाचारी, विनम्र, मृदुभाषी, सहिष्णु तथा उदार हैं। ये पात्र न तो विपत्तियों में फिसलते हैं और न ही सुख में थिरकते हैं। जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश तथा उष्णता को नहीं त्यागता उसी प्रकार ये पात्र किसी भी स्थिति में सज्जनता का परित्याग नहीं करते। दुर्जन पात्रों की स्थिति इससे भिन्न है। दुष्टता, मक्कारी, बेईमानी तथा धूर्तता के प्रतीक यह दुर्जन पात्र कालान्तर में या तो सुधर जाते हैं या अपने अपराध की गम्भीरता के कारण मृत्यु दण्ड पाते हैं। गहमरी का दृष्टिकोण सुधारवादी था, इसलिये उन्होंने

---

२. हिन्दी उपन्यास में चरित्र चित्रण का विकास, पृष्ठ १३८

३. हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा, पृष्ठ ४८, डा० मक्खनलाल शर्मा।

दुष्टता पर सज्जनता की विजय दिखाकर अधिकांश स्थितियों में खल पात्रों को सुधार दिया है। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण तथा उपचार दोनों पक्षपातपूर्ण लगते हैं। सज्जन सदा उनकी सहानुभूति के पात्र रहे हैं और दुर्जन उनकी घृणा का शिकार हुए हैं। जब उनके जी में आता है वे दुर्जन पात्रों को झट मृत्यु शय्या पर लिटा कर, धधकती आग में धकेल कर, छुरा चोंपवा कर अथवा किसी अन्य उपाय से चलता कर देते हैं और मृत्यु मुख में पड़े सज्जन पात्रों को कबिराज बुलाकर, डाक्टर मंगवा कर जिला लेते हैं। वे अपने पात्रों को न तो स्वतन्त्र आचरण ही करने देते हैं और न ही उनका स्वाभाविक विकास ही होने देते हैं। सर्कस के एक 'रिंगलीडर' की भाँति चाबुक लेकर वे अपने पात्रों की गतिविधियाँ मर्यादित कर देते हैं। उनके इसी हंटर की करामात से कभी कभी सज्जन तथा दुर्जन पात्र एकसा ही आचरण करने को भी बाधित हो जाते हैं।

(ii) चरित्र चित्रण की सीधी या वर्णनात्मक शैली :—

गहमरी के चरित्र चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने पात्रों के बारे में सभी कुछ स्वयं कह देते हैं। उपन्यासों के प्रारम्भ में ही वे अपने लगभग सभी पात्रों की वेश-भूषा, शारीरिक गठन, स्वभाव आदि का संक्षिप्त परिचय दे देते हैं और उनके ये पात्र इसी संक्षिप्त परिचय के अनुसार ही सारे उपन्यास में आचरण करते हैं। तनिक भी इधर-उधर नहीं जाते।

डा० रणबीर रांगा ने अपने शोध-प्रबन्ध में एक स्थान पर लिखा है कि गहमरी अपने पात्रों के सम्बन्ध में स्वयं परिचय न देकर उनके क्रिया-कलापों द्वारा चरित्र का उद्घाटन होने देते हैं :—

'हिन्दी के अन्य प्रारम्भिक उपन्यासकारों की भाँति गहमरी अपने पात्रों का हाथ पकड़ कर उन्हें पाठकों के सामने नहीं लाते और न ही अपनी ओर से पाठकों को उनका परिचय देने लगते हैं। उनके उपन्यासों में पात्रों का प्रथम परिचय नाटकीय ढंग से मिलता है। उपन्यास आरम्भ होते ही पाठकों को पात्र कार्य व्यस्त मिलते हैं और अपने क्रियाकलापों से ही वे उनपर खुलते हैं।'४

पारिवारिक उपन्यासों के संदर्भ में हम उनके इस कथन से सहमत नहीं है। डा० रांगा का अध्ययन विशेष कर जासूसी उपन्यासों पर आधारित लगता है।

गहमरी अपने पात्रों के गुण, पहनावे, सौन्दर्य, शारीरिक गठन आदि के बारे में सब कुछ अपनी ओर से कह जाते हैं। 'गृहलक्ष्मी' के प्रथम पृष्ठ में इस उपन्यास की नायिका के बारे में उनका कथन द्रष्टव्य है :—

"... महल्ले भर में चन्द्रा के चन्द्रानन की मुँहें-मुँह बड़ाई होती थी, चन्द्रा केवल चन्द्रवदना ही नहीं थी किन्तु गुण कर्म्म में भी चन्द्रा के समान स्त्री संसार में दुर्लभ है, चन्द्रा संसार

४—हिन्दी उपन्यास में चरित्र चित्रण का विकास, पृष्ठ १३९।

का काम काज अकेले ही करती थी यह सब जानती और करती थी, केवल झगड़ा कलह किसे कहते हैं यह वह नहीं जानती थी, देवता ब्राह्मण और गुरुजनों की सेवा में चन्द्रा की अचला भक्ति थी...सारांश यह कि चन्द्रा रूप में लक्ष्मी और गुण में सरस्वती थी, पति भक्ति में सावित्री और भोजनादि क्रिया में अन्नपूर्णा थी इत्यादि, इत्यादि।'५

और गृहलक्ष्मी की चन्द्रा विपत्तियों के सम्मुख भी गहमरी के उपर्युक्त कथन को नहीं झुठलाती। सज्जन पात्रों की तरह गहमरी ने दुर्जन पात्रों की स्वभावगत विशेषताओं को भी बड़ी ईमानदारी से चित्रित किया है। उनके पास इतनी फुर्सत कहाँ थी कि वे किसी पात्र की चरित्रगत विशेषता समझाने के लिये तदनुकूल वातावरण की सृष्टि करते फिरते। पाठकों की सुविधा के लिये वे अपनी ओर से ही चार छः पंक्तियों में अपने पात्रों का चरित्रांकन कर देते हैं। उदाहरणार्थ 'बड़ा भाई' की सौत का चरित्र निम्नोद्धृत पंक्तियों में ही स्पष्ट हो जाता है :--

. गुलाब कलहप्रिय स्त्री नहीं है, वह प्रकाश रूप से किसी को अप्रिय बात नहीं कहती उसकी प्रवृत्ति भी वैसी नहीं है। जो उसकी आँख के काँटे हैं, वह उनके साथ ऊपरी प्रेम बढ़ाकर भीतर ही भीतर उनका सर्वनाश करती है। इस वक्त गुलाब बाहर देवी है भीतर राक्षसी है।६

(iii) सामूहिक चरित्रांकन :-

यह तो रही बात वैयक्तिक चरित्रांकन की। "तीन पतोहू" के प्रारम्भिक पृष्ठों में गहमरी ने कालीचरणराय के सारे कुटुम्ब के सदस्यों का एक साथ ही संक्षिप्त परिचय दे दिया है। कौन व्यर्थ में अलग-अलग चरित्रांकन करता फिरे। इकट्ठे चरित्रांकन से लेखक को तो सुविधा है ही गहमरी कालीन पाठक को भी काफी सुविधा रही होगी। आगे की पंक्तियों में दिये गये उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी :--

"राय साहब के घर में इस वक्त सब मिला कर सोलह सत्तरह आदमी होंगे। खुद मालिक मालकिन, तीन लड़के, तीन पतोहू, दो पोते, तीन पोती, नौकर सग्राम और दासी रचली। ... कालीचरणरायका शरीर साँवला। मुह की शोभा और शरीर का गठन बहुत सुन्दर है। उनकी स्त्री मनमोहारी अपनी उमर पर सुन्दर थी। बसन्त और भोला (बड़े पुत्र) शरीर के रंग और मुटाई में बाप के समान हैं। रामदहिन (छोटा बेटा) मुटाई में बापको और रंग में और कान्ति में माता को पड़ा है। बड़ी पतोहु पचीस बरस की होगी तीन बच्चो की माँ हो चुकी है। लेकिन माटी कड़ी है। रंग रूप और शरीर देखकर कोई अट्ठारह उन्नीस बरस से आगे का समझेगा। देहका रंग बहुत साफ न होने पर भी काला नहीं है। नाम है उनका महामाया।

५—गृहलक्ष्मी, पृष्ठ ३
६—बड़ा भाई, पृष्ठ ११४

मभली पतोहू उन्नीस बरस की जवान स्त्री है। दो लड़कियाँ हो चुकी हैं। रंग साँवला होने पर भी बुरा नहीं है। सुन्दर मुँह, उज्ज्वल आँखें, गोटार-गोटार सुडौल पांव और जांघ तक लटकते रेशम से मुलायम चमकते हुए चिकने बालों की घुँघराले चोटी देखकर कोई उसे सुन्दरी कहे बिना नहीं रह सकता। नाम है घमनादेवी। छोटी पतोहू चौदह बरस की सुकुमारी कन्या है सुन्दर शरीर की नदी में अभी जवानी का ज्वार उमड़ा आता है अभी पूरा चढ़ा नहीं किन्तु चढ़ने पर है। उज्ज्वल श्यामवर्ण सुगठित शरीर सुन्दर काले घने केश, बड़ी-बड़ी विमल आँखें, उज्ज्वल दीप्ति पूर्ण सरस लावण्यजक मुखश्री गम्भीर नाभि आदि से छोटी पतोहू बड़ी ही सुन्दरी दीख पड़ती है। नाम माता पिता ने सुशीला रखा है। रूप लावण्य में सुशीला बड़ी ही मधुमयी रमणी है।[७]

(iv) अप्रत्यक्ष चरित्र चित्रण :—

इस प्रकार गहमरी ने अपने पात्रों के बारे में अधिकांश वक्तव्य स्वयं दे दिया है। परन्तु वे इस सम्बन्ध में सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेना चाहते। अन्य पात्रों के मुख से भी किसी पात्र विशेष के बारे में थोड़ा बहुत कहलवा देते हैं। गली कूचों में 'तीन पतोहू' के बसन्तराय के पाजीपने तथा उसकी दगाबाजी की मुँहें मुँह चर्चा किस प्रकार हो रही है —

"सब ने बसन्त को पाजी, हत्यारा, मतलबी, निर्दयी, भ्रातृहन्ता, मातृ-घातक, भ्रातुष्पुत्रहन्ता, जाली कहना शुरू किया नगर में अब उसके सब पाप कर्म्मों की समालोचना होने लगी। पाप का भण्डा फूटा। सब भेद बाहर होने लगा।"[८]

(v) घटनाओं, कथोपकथनों तथा पत्रों के माध्यम से चरित्र का उद्घाटन :—

गहमरी के पात्रों के चरित्र घटनाओं के माध्यम से भी उद्घाटित होते हैं, परन्तु यह गहमरी द्वारा वर्णित उनके गुणों अवगुणों के आधार पर ही खुलते हैं चरित्रोद्घाटन की एक अन्य प्रणाली है पात्रों के कथोपकथन की। गहमरी के पात्रों के संवाद भी उनके गुणावगुणों के अनुसार प्रतिध्वनित होते हैं। धृष्टपात्र कर्कश शब्दों का प्रयोग करते हैं, जलीकटी सुनाते हैं और सज्जन पात्र सयमित मर्यादित शब्दों का प्रयोग करके सबके भले की बात करते हैं। इस प्रकार उनके चरित्र उनके कथनों से पात्रों को स्पष्ट हो जाते हैं कभी कभी पात्र अपने पत्रों के माध्यम से भी अपनी चरित्रगत विशेषताओं को प्रकट करते हैं। गहमरी के उपन्यासों में पत्रों का काफी आदान प्रदान होता है। 'तीन पतोहु में रामदहिन की चिट्ठि' और 'सुशीला का जवाब' शीर्षकाधीन पत्रो से दोनों पात्रों के चरित्रों का उद्घाटन होता है। उनकी मानसिक दशा सामाजिक स्थिति तथा पारिवारिक स्थिति का भी इन पत्रों से पता चल जाता है।

---

७ तीन पतोहू पृष्ठ ६-७।

८ तीन पतोहू, पृष्ठ १६०-१६१।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि चरित्र चित्रण गहमरी का प्रिय विषय न होने पर भी उन्होंने चरित्रोद्घाटन की लगभग सभी विधियों का उपयोग किया है। उन्होंने चरित्र चित्रण की सीधी अथवा वर्णनात्मक शैली का अधिक प्रयोग किया है। सामूहिक चरित्रांकन तो उनकी अपनी विशेषता है ही। उनके उपन्यासों में अप्रत्यक्ष चरित्रांकन के भी कई उदाहरण मिल जाते हैं इसके अतिरिक्त उन्होंने घटना सयोजन, कथोपकथन तथा पत्रों के माध्यम से भी पात्रों के चरित्रों का उद्घाटन किया है जो कि गहमरी की एक महत्वपूर्ण तथा प्रयोगात्मक उपलब्धि है।

(ग) पर्यावरण विधान :

जीवन के अधिक निकट होने के कारण उपन्यास में सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करने की अधिक छूट रहती है और कथा-लेखक अपने विवरण को अधिकाधिक स्वाभाविक, विश्वसनीय तथा यथार्थपूर्ण बनाने के लिए कथा-प्रवाह के साथ-साथ समाज के रीति-रिवाजों, तीज-त्योहारों, परम्पराओं, नैतिक आचरणों, धार्मिक विधि निषेधों आदि का विशद चित्रण प्रस्तुत करना चलता है। इन्हीं सब बातों को हम वातावरण की सृष्टि के अन्तर्गत रख सकते हैं। एक समाजशास्त्री ने मानव अथवा मानव समुदाय को प्रभावित करने वाली सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों के पुञ्ज को ही वातावरण (अथवा पर्यावरण) की संज्ञा दी है।[१]

आज का लेखक इस सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण के अतिरिक्त किसी और चीज की भी आकांक्षा करता है, जो उसके विवरण को अधिक प्रभावोत्पादक, हृदयग्राह्य तथा हूबहू बना दे।

परन्तु शिल्प की दृष्टि से अपरिपक्व तथा ग्रामीण सहजता सम्पन्न गोपालराम गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों में इस प्रकार का अत्याधुनिक शिल्प-विधान ढूंढ़ना व्यर्थ ही सिद्ध होगा। बात ऐसी नहीं है। गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों के सूक्ष्म अध्ययन से हमें कुछ ऐसे दिशा-बिन्दु उभरते दिखाई दिए हैं, जिन्हें हम उत्तम शिल्पगत विशेषता के अन्तर्गत रख सकते हैं। वैसे तो गहमरी ने निष्ठुर बाप की तरह वातावरण के चित्रण का मोह ही त्याग दिया है। यह चित्रण भी उन्होंने फुर्सत मिलने पर ही किया है, नहीं तो वे अधिकतया कथा सूत्र में ही उलझे रहे हैं। वातावरण के निर्माण में सम्भवत. गहमरी कहीं नहीं उलझे हैं। उन्हें इसकी आवश्यकता भी न थी। वैसे ही पर्यावरण का आयोजन कथावस्तु अथवा चरित्र के विकास के लिए किया जाता है। परन्तु गहमरी को इन दोनों के विकास की चिन्ता नहीं थी। उनके सभी पात्र पले-

---

१. इनवार्नमेण्ट इज़ द एग्रिगेट ऑव सोशल एण्ड कल्चरल कंडिशन्स (एज कस्टम, लॉज, लैंग्वेज रिलिजन एण्ड कल्चरल आर्गनाइजेशन्स) दैट इन्फुएंसेज द लाइफ आव एन इंडिविजुअल एण्ड कम्यूनिटी।”

पलावे हैं। वे सभी देवताओं की भाँति देशकाल के बन्धनों से मुक्त दिखाई देते हैं। इसी प्रकार कथानक के विकास की भी गहमरी को फिक्र नहीं दिखाई देती। उनकी इच्छानुसार वह रबड़ की तरह खींचे और सिकोड़े जा सकते हैं। ('सास पतोहू' तथा 'तीन पतोहू' सभी दृष्टियों से लगभग समान होते हुए भी उनकी पृष्ठ संख्या में ६४ तथा २१८ की दूरी आ गई है।)

एक बात और है। यदि गहमरी अपने पारिवारिक उपन्यासों में स्थानीय रंगों को अधिक उभार देते तो वे हिन्दी उपन्यास साहित्य के सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यासकार कहलाने के अधिकारी बन जाते। जासूसी उपन्यासों में उन्होंने प्रसग विशेष की आवश्यकता के अनुकूल वातावरण की सृष्टि के लिए अवश्य ही खींचतान की है।

गहमरी की सम्भवतः यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता रही है कि वे वातावरण के निर्माण में कहीं भी नहीं रुके हैं। जहाँ कहीं कथा-प्रवाह को थाम कर उन्होंने कुछ कहने की कोशिश की है, वहाँ उन्होंने या तो नैतिक उपदेश दिया है, या अपने बचपन का कोई खट्टा-मीठा संस्मरण प्रस्तुत किया है, अपने समकालीन किसी नेता के हिन्दी-प्रेम की चर्चा की है, अथवा कोई दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है, परन्तु उन्होंने कहीं भी चलते-चलते अथवा ठहर कर वातावरण का चित्रण नहीं किया है।

यह भी एक अजीब स्थिति है कि गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि वातावरण प्रधान न होकर दार्शनिक विवेचन प्रधान है। घटना को मोड़ देने, अपने कथन की सार्थकता सिद्ध करने। किसी पात्र विशेष के चरित्रगत विकास को स्पष्ट करने अथवा प्रसग विशेष को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए गहमरी ने कई स्थानों पर दार्शनिक पृष्ठभूमियाँ बाँधी हैं। एक अशुभ सन्देश सुनाने के पहले पाठकों को आकस्मिक धक्के से बचाने के लिए गहमरी ने यह पृष्ठभूमि बाँधी है—

"ससार में सुख-दुःख का मूल समझना बड़ा कठिन है, किससे सुख होगा और किससे दुःख का पाला पड़ेगा, बहुधा इसका समझना आदमी के लिए असाध्य हो जाता है। हम लोग जिसे सुख का मूल समझ कर मारे आनन्द के मत्त हो उठते हैं, वह भी हम लोगों के अपार दुःख का कारण हो उठता है। और जिसे असीम दुःख का घर समझ कर हम लोग विषाद करते हैं, घटना विशेष से वही हमको अनन्त सुखसागर में डुबा देता है, इसी से कहते हैं कि जगत् में दुःख-सुख का आकार-निरूपण करना बड़ा ही कठिन है।[१०]

यहाँ तक कि कहानी को दो-चार वर्ष आगे घसीटने के लिए भी गहमरी ने दार्शनिक उपचार (टेक्नीक) का प्रयोग किया है :—

"समय किसी की अपेक्षा नहीं करता। यह सर्वजयी समय बीतता जाता है।"

---

१०. देवरानी जेठानी, पृष्ठ ६४-६५

"चाहे रोशनी हो चाहे अन्धकार, चाहे ग्रीष्म हो चाहे वर्षा, कोई समय का गतिरोध नहीं कर सकता। धन देकर जगत् की सब वस्तुओं को क्रय किया जाता है, किन्तु इस समय को कोई नहीं खरीद सकता।"

"समय अनन्त है। दिन-पर-दिन, महीने पर महीना, वर्ष पर वर्ष और युग पर युग बीतता जाता है।"११

इसी प्रकार दार्शनिक पृष्ठभूमियाँ गहमरी के सभी पारिवारिक उपन्यासों में आई हैं। 'देवरानी जेठानी' पृष्ठ ५३, ६४, १०७, 'गृहलक्ष्मी' पृ० २५, १०३, 'बड़ा भाई' पृ० १८२, 'तीन पतोहू' पृ० २०, ५५ तथा 'सास पतोहू', पृ० ५८) जिन सब का चित्रण यहाँ अपेक्षित नहीं है।

अब हम गहमरी द्वारा पर्यावरण विधान के क्षेत्र में किये गये चमत्कारपूर्ण प्रयोगों की चर्चा करेंगे। गहमरी ने मृत्यु शैया के वातावरण को अधिक करुणा जनक, अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अपने उपन्यासों में अनेक स्थानों पर इस टैकनीक का प्रयोग किया है।

"सास पतोहू" की बाल विधवा सीता की मृत्यु के समय का सजीव वातावरण निम्नोद्धृत प्रसंग से स्पष्ट हो जाएगा :—

'सीता का शरीर अवसन्न होने लगा, पीड़ा घटने लगी। चंचलता विलीन प्राय हुई क्रमशः जब कालरात्रि का अवसान हुआ था प्रभात समीर रजनी के दीर्घ विश्वास (निःश्वास चाहिए) की भाँति द्वार झरोखों और खिड़कियों से चलने लगा था जब सुप्तोत्थित विहंगगण प्रायः कलरव कर उठे, जब नगर के पहरेवाले जागरण करके आधी नींद में उनींदी आँखों से अपने डेरों को जाने लगे, जब राजमार्ग से गाड़ियों की घर-घराहट सुनाई देने लगी। जब सेज से उठकर लोगों के परस्पर आलाप और शोकग्रस्त गृह से आत्मीयजन की क्रन्दन ध्वनि उत्थित होने लगी, तभी प्राण-पक्षी सीता का शरीर पंजर सूना छोड़कर उड़ गया।'१२

पुत्र अपनी माता की हत्या करने चला है। यह एक असामान्य घटना है। जासूसी उपन्यासों में भले ही यह स्वाभाविक घटना हो, परन्तु पारिवारिक उपन्यासों में ऐसी घटना का समावेश एक अभूतपूर्व घटना थी। इस घटना का चित्रण करते हुए गहमरी का भी कलेजा दहल गया है। उन्होंने शब्दों की जादूगरी से इस प्रसंग को इतना भयावह बना दिया है कि यह उनके पर्यावरण विधान का एक उत्कृष्टतम नमूना बन गया है?

'धीरे, धीरे, धीरे—ललित धीरे, चारों ओर भीषण अन्धकार है ललित धीरे। तुम्हारे पद भार से पृथ्वी कंपित हो रही है ललित धीरे तुम्हारे पाप निःश्वास से सब कलंकित होते हैं—

११. गृहलक्ष्मी, पृष्ठ २५-२६
१२. सास-पतोहू, पृ० ६३

छलित धीरे, ऐसे पाप कार्य में कभी कोई प्रवृत्त नहीं हुआ—छलित धीरे, ऐसी अमानुषिक हत्या के उद्देश्य से कभी किसी ने अस्त्र धारण नहीं किया—छलित जरा धीरे, ऐसे भयंकर पापकार्य की कल्पना भी अतीत है—छलित जरा धीरे, फिर कहते हैं—धीरे, धीरे, धीरे—छलित जरा धीरे।'१३

'तीन पतोहू' का बसन्तराय अपनी माँ, भावज तथा अपने अबोध भतीजे को छोटे भाई के घर में आग लगा कर जीते जी झुलस देता है। अपने पोते (राजाराम) की मृत्यु पर अधजली दादी अर्ध-विक्षिप्त हो जाती हैं और 'अलाय-बलायें' बकने लगती है :—

'अच्छा किया रे! अच्छा किया है। नहीं दूँगी। दूँ क्यों, मेरा सोने का नाती तू ले जायेगा? ऐसा नहीं हो सकता। उहूँ नहीं, नहीं। बेटा रोवो मत। आवो बेटा राजा! आवो हमारी गोद में आवो, डरो मत। मैं बैठी हूँ अरे ले गया रे। देखो, देखो, लिए जाता है। देखो, अरे रामदहिन! दौड़ रे दौड़। हाय बाबू। अरे आरे। आ। जल्दी आ। जल्दी घर जल्दी। जल्दी!! ·।१४

इससे आगे और भी विक्षिप्त होकर बुढ़िया बड़बड़ा उठती है :—

'ओह, बड़ी पीड़ा है। बड़ा दुःख है। बाप रे बाप! आ आ ' आ'''ग' 'ग ग आ'''ग 'ग'''रे ' आ ' आ ' ग ' ग ग अरे ' रे ब ब ब' सन्ता ' आ'''आ '' मार डाला रे, मार डाला। रामदहिन नहीं आया नहीं। अरे कुत्ता है रे कुत्ता। आया। आया। भाग। भाग। भाग। काटता है। काटता है। राम। राम। मार। मार। अरे नहीं, नहीं। कुत्ता मारे से क्या होगा? अरे रेरे रेरे, मार डाला। और काहे को मारा, दूर। दूर। दुर्र र र र र।१५

इन प्रसंगों के अतिरिक्त गहमरी के उपन्यासों में यत्रतत्र तत्कालीन प्रथाओं, रीति रिवाजों आदि का भी चित्रण हुआ है। एक धार्मिक अथवा वैवाहिक प्रथा का उल्लेख किया जा रहा है। पुरोहित लग्न सोच कर कहता है :—

'अगहन सुदी तीज की लग्न उत्तम है। आधी रात को साइत है, इतने में सब काम ठीक कर लेना होगा। पीछे साइत अच्छी नहीं है।'१६

घर में आये बारातियों का स्वागत किस रीति से होता था, निम्नोद्धृत उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा :—

---

१३. बड़ा भाई, पृ० १८३-१८४

१४. तीन पतोहू, पृ० १३२

१५. वही, पृ० १३२-३३

१६. बड़ा भाई, पृ० २९

"आइये बैठिये। नौरंगवा तम्बाकू भर ला रे। रमटला! नये घर से गुड़ठा लाकर अहरा लगा दे। अरे भोला! चाभी लेजा, कोठरी में से सब गुड़गुड़ी लाकर रख दे"१७

भारतीय समाज में विवाह का विशेष महत्व रहा है और विवाह के अवसर पर दूल्हे के साथ रमणीगण की छेड़छाड़ और भी विशेष आकर्षण का केन्द्र होती है। इसी प्रकार का एक प्रसंग गहमरी के 'बड़ा भाई' उपन्यास में आया है :—

"अब क्या देखते ही देखते कोहबर नावेल्टी थिएटर का रंगमंच हो उठा। गाननान और उनका थिरकना देखकर जगन्नाथ (दूल्हा) अवाक् हो गये। उन थिएटरों में दर्शक और दर्शिकागण नाटक देखने जाकर और का नृत्य देखते हैं, यहां दर्शक और दर्शिका ही घर के आगे थिरक-थिरक अपना गुण दिखाने लगीं। रात बीत गयी, सवेरा हुआ। किन्तु, इन गान-प्रिय रमणियों की तृप्ति नहीं हुई।"१८

पर्यावरण विधान के नाम पर गहमरी के उपन्यासों में सम्भवत. यही कुछ है। इससे अधिक की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। गहमरी की मान्यताएँ, सीमाएँ बिल्कुल स्पष्ट हैं।

(घ) कथोपकथन :

मानव जीवन कथा है और यह कथा भाषा के माध्यम से समाज में संप्रेषित विकसित होती है, आगे बढ़ती है। कथोपकथनों के अभाव में मानव जीवन की सामाजिकता ही निःशेष हो जाती है, क्योंकि उपन्यास मानव जीवन का यथार्थ अंकन प्रस्तुत करते हैं। इसलिए कथोपकथन इनकी स्वाभाविक तथा अनिवार्य विशेषता हो जाते हैं। कथा-साहित्य में कथोपकथन तीन भूमिकाएँ निभाते हैं :—

१—यह कथा का विकास करते हैं।

२—पात्रों के चरित्र को उद्घाटित करते हैं तथा

३—लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं।

(1) ठूसे गए तथा आरोपित कथोपकथन :

जहाँ तक गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों का सम्बन्ध है, उनमें कथोपकथन मुख्यतया अन्तिम दो भूमिकाएं ही निभाते हैं। कथानक को तो लेखक स्वयं ही घसीटता धकेलता आगे ले चलता है। और जहाँ भी मन में आता है उसे रोक कर व्याख्यान देने लग जाता है। पारिवारिक उपन्यासों में गहमरी का कथाकार पृष्ठभूमि में चला जाता है तथा उपदेशक प्रधान हो जाता है। जासूसी उपन्यासों मे स्थिति इसके विपरीत है। कथानक को आगे ले जाने के लिए गहमरी को अपने

१७. बड़ा भाई, पृ० ४५

१८. बड़ा भाई, पृ० ५६-५७

पात्रों के कथोपकथनों की सहायता अपेक्षित नहीं है। पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध में भी लेखक अधिकांश वक्तव्य स्वयं ही दे देता है। गहमरी के अधिकांश पात्र उन्हीं (गहमरी) की भाषा में बात करते हैं, उन्हीं की वाणी बोलते हैं। गहमरी उनके मुंह में जो शब्द ठूस देते हैं, वे उन्हीं को उगलते हैं—फालतू बात नहीं करते। तात्पर्य यह है कि गहमरी ने अपने पारिवारिक उपन्यासों में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए कथोपकथनों का काफी प्रश्रय लिया है। गहमरी अपने मतलब की बात चुन लेते हैं, जो उपयुक्त हो उसे ही ग्रहण करते हैं, उसे ही प्रकाशित करते अथवा करवाते हैं। यहाँ एक बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि गहमरी अपना मत व्यक्त करने के लिए सज्जन पात्रों को ही उपकरण बनाते हैं। दुर्जन पात्रो के साथ तो, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उनकी सहानुभूति ही नहीं होती।

(ii) अत्यन्त संक्षिप्त तथा सारगर्भित कथोपकथन.

गहमरी के पारिवारिक उपन्यासों में भले ही शिल्पगत अनियमितताएं मिल जाएंगी, परन्तु कथोपकथनों की संक्षिप्तता तथा सारगर्भिता उनकी अपनी ही विशेषता है। अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती लगभग सभी लेखकों से गहमरी इस सम्बन्ध मे आगे हैं। कई स्थानो पर यह कथोपकथन भले ही अस्वाभाविक, फालतू तथा बचकाने लगते हों, परन्तु इनका समग्र प्रभाव बड़ा ही अनुकूल, सम्बद्ध तथा स्वाभाविक होता है। उनके अधिकांश उपन्यास (जासूसी तथा पारिवारिक दोनों) कथोपकथनों से ही प्रारम्भ होते हैं। जासूसी उपन्यासों में तो कभी-कभी सारी कथा कथोपकथनों के पहियों पर आगे दौड़ती चलती है। 'जादूगरनी' की लगभग सारी कहानी कथोपकथनों के माध्यम से ही कही गई है। पारिवारिक उपन्यासों मे लेखक के आत्म वक्तव्य काफी स्थान घेरे हुए हैं।

सर्वप्रथम हम सक्षिप्त संवादो का उद्धरण प्रस्तुत करेंगे। बक्सर की फौजदारी कचहरी मे डिपुटी मजिस्ट्रेट तथा एक रण्डी का सवाल जवाब द्रष्टव्य है.—

तुम्हारा नाम ?

जवाब—'बनमाली जान।'

सवाल—'खसम का नाम ?

जवाब—"रुपया।"

सवाल—"नहीं तुम्हारा आदमी कौन है ?"

जवाब—"जी हाँ, मेरा आदमी रुपया जो रुपया दे वही मेरा आदमी।"

सवाल "अच्छा आपका नाम ?"

जवाब—"आपका नाम मैं क्या जानु मां भी नहीं जानती होगी।"

सवाल—"अच्छा माँ का नाम ?"
जवाब—"माँ का नाम उमेदा।"
सवाल—उमर" ?
जवाब—"सत्रह वर्ष।"
सवाल—'रहती कहाँ हो ?"
जवाब—"इसी शहर में।"
सवाल—"बोलो क्या बयान है ?" १९

उपर्युक्त सम्वाद संक्षिप्त होने के साथ-साथ कितने सारगर्भित चुस्त तथा व्यंग्य पूर्ण हैं सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यह थोड़े से शब्द रण्डी जीवन की निःसारता, तत्कालीन सामाजिक स्थिति, वेश्या जीवन की दयनीय स्थिति अमर प्रण की भावना आदि कई बातों को एक साथ प्रकट करते हैं। इनमें उत्सुकता, अनुकूलता, सवद्धता, सक्षिप्तता तथा सौदेश्यता आदि संवादों के सभी गुण विद्यमान हैं।

(iii) कथोपकथनों में शैशवकालीन "नाटकीय" दोष :

गहमरी के कथोप कथनों में एक शैशवकालीन "नाटकीय" दोष है। वे पात्रों के हावभाव, शारीरिक चेष्टाओं, आदि का चित्रण न करके नाटक के सम्वादों की भाँति पात्र का नाम देकर उसका कथन लिख देते हैं :—

च०—"काहे फुआ! सुनती हूँ श्रीधर क्या शराब पीता है ?"
मनो०—"शराब आजकल कौन नहीं पीता।"
च०—"और सुनती हूँ रण्डियों के यहाँ भी जाता है।"
मनो०—"वर तो ऐसी अवस्था में शादी नहीं होने पर कौन नहीं रण्डी के पास जायेगा।" २०

इन कथोपकथनो में यदि लेखक चन्द्रा के आश्चर्य को प्रकट करने, मनोरमा के निश्चिन्त स्वभाव को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये संवादों से पूर्व उनके नाम न देकर अपनी ओर से कुछ कह देता तो इनकी स्वाभाविकता अधिक बढ़ जाती। एक ओर जहाँ कथा को सक्षेप में कह देने की दृष्टि से लेखक का यह गुण है वहाँ दूसरी ओर यह उसके वर्णन कौशल के कौमार्य का भी सूचक है, परन्तु गहमरी "अकेला पाकर चन्द्रा ने श्रीधर से कहा", "श्री धरने मुह पर साफ कह दिया" आदि कह कर ही सन्तोष कर लेते हैं तथा अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं।

(iv) अपने जीवन-दर्शन के उद्घाटन के लिये कथोपकथनों का प्रयोग :

कई स्थानों पर पात्रों के कथोपकथन उनकी चरित्रगत विशेषता को उभारने में सहायक तो होते हैं परन्तु उनके पीछे "लेखक का दृष्टिकोण भी साफ-साफ झलकता दिखाई देता है। "बड़ा

१९. तीन पतोहू, पृष्ठ २०७।
२०. गृहलक्ष्मी, पृष्ठ ९२।

भाई" की एक सामान्य स्त्री के मुंह से गहमरी ने बड़े पते की बात कहलवाई है, विधवा विवाह, नारी की स्थिति के बारे में उन्होंने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है :—

एक मरी है उससे हजार गुना बढ़िया दूसरी पाये हो तुम मर्द आदमी, स्त्री का मरना और जूते का फटना दोनो बराबर है आज मरी कल दूकान पर जाकर नयी ओढ़ी पहन आये, तुम कुछ स्त्री थोड़े हो कि पुरुष मरा तो फिर होने का नहीं।" २१

गहमरी के सामने नौकरों का एक आदर्श था। वे सम्भवत: ऐसे नौकरों के पक्षपाती थे, जो मालिक का नमक खाकर उनको धोखा न दें अथवा ईश्वरीय विधान समझ कर भक्ति भावना से उनकी सेवा करें। यदि उनके उपन्यासों में एकाध सेवक इस प्रकार की भावना की अभिव्यक्ति करता तब हम समझते थे कि संसार में ऐसे व्यक्ति भी मौजूद हैं, परन्तु सभी उपन्यासों के सभी नौकर जब एक ही वाणी बोलने लग जाएँ तो इस व्यवस्था के प्रति लेखक का सहयोग स्पष्ट झलकने लगता है। 'बड़ा भाई' का शंकर पाण्डे (नौकर) कहता है —

"आप मालिक हैं, आपकी जो इच्छा हो कर सकते हैं। तो मैं केवल चाकरी के मोह मे हूँ सो न समझियेगा। मैंने आपका नमक खाया है बिना तनख्वाह के भी नौकरी करने को राजी हूँ।२२

(v) पात्रानुकूल कथोपकथन :

दुर्जन पात्रों के कण्ठ में ही जैसे ऊद बिलाव बैठा रहता है। वे सहज ढंग से बात कर ही नहीं सकते। उनके स्वभाव के खुरदरेपन की तरह उनकी भाषा भी कम चुभनी नहीं होती। एक मुँहजोर पत्नी अपने पति परमेश्वर के स्वागत में यह शब्द कहती है :—

'धूमा—हां हो, हां। तुम सुजात हो, तुम्हारी माँ सुजात है, तुम्हारे सब सुजान हैं। हम बदमाश, हमारी सात पीढ़ी बदमाश। लेकिन न जाने सुजात बदमाश के घर अपने मुँह में कालो लिपाने क्यों आता है।'२३

निष्कर्ष रूप में हम पाते हैं कि गहमरी के कथोपकथन अत्यन्त संक्षिप्त, सारगर्भित, स्थिति के अनुकूल, प्रभावोत्पादक, उद्देश्यपूर्ण तथा कुतूहलवर्धक हैं। खल पात्र अपने ढंग की अपने स्तर की बात करते हैं तथा सज्जन पात्र अपने स्वाभावानुकूल। भाषा सम्बन्धी गहमरी के अधिकांश प्रयोग इन सवादों के माध्यम से ही प्रकाश में आये हैं। शहरी तथा पढ़े-लिखे पात्रों की भाषा में, उनके संवादों में पात्रोचित गरिमा है तथा ग्रामीण पात्रों के संवादों में ग्रामीण सहजता। उनके उपन्यास भले ही साहित्यिक दृष्टि से इतने अधिक उत्कृष्ट न हों, परन्तु उनके कथोपकथन नि:सन्देह एक साहित्यिक उच्चता लिए हुए हैं। उनकी मुहावरे प्रधान भाषा तथा उनके चुलबुले सारगर्भित सवादों का विकसित रूप हमें आगे जाकर प्रेमचन्द में मिलता है।

---

२१ बड़ा भाई, पृ० ५५
२२. बड़ा भाई, पृ० २२९
२३ देवरानी जेठानी, पृ० ४४

'निराला' की अर्थ-नियोजन-कला

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

एक अंग्रेजी आलोचक ने लिखा है कि कवि अनिवार्यतः अर्थान्वेषण की प्रक्रिया में भाषा की दर्जीनुमा सिलाई करता है।[1] 'निराला' ने भी अपनी भाषा की संरचना इसी हिसाब से की है। उनकी अर्थ-नियोजन-कला पर प्रकाश डालने का प्रयोजन भाषा की उन्हीं सिलाइयों पर ध्यान देना और उनके बारीकपन को अवरेखित करना है। शास्त्रीय पद में यही काव्य का विश्लेषण है। इस विश्लेषण से प्रथमतः पाठक के मस्तिष्क की अस्पष्टता दूर होती है, द्वितीय कवि की रचना प्रक्रिया स्पष्ट होती है तथा तृतीयतः कवि के शब्द-चयन और अर्थ-नियोजन का प्रकृत परिचय प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि निश्चयात्मक रूपमें कवि की अर्थ-नियोजन-कला पर विचार करने के लिए हमें विश्लेषण-पद्धति का सहारा लेना पड़ेगा।[2]

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की अर्थ-नियोजन-कला सूर्य की बारह कलाओं की तरह प्रखर है। कवि ने अपने काव्य में शब्द-कौशल, समास-विधान, क्रियात्मक प्रयोग, विशेषोक्ति, अलंकार, प्रतीक, बिम्ब, कल्पनात्मक उन्मेष, प्रसंग-गर्भत्व, सन्दर्भ-सर्जन, व्यंजना और भावावेग (थ्रिल)-सर्जन के सहारे अर्थ का अनन्वय नियोजन किया है।

शब्द के माध्यम से अर्थ का नियोजन दस रूपों में किया गया है। कहीं कवि ने शब्द को व्युत्पत्त्यर्थ देकर अर्थ का ऐतिहासिक-आरम्भिक अभिनिवेश किया है, तो कहीं शब्द को प्रतिज्ञा-ज्ञापित वैयक्तिक अर्थ प्रदान कर अर्थ की मौलिकता-नवीनता का सन्निवेश किया है, कहीं शब्द को प्रचलित अर्थ-बोध से परे स्वयसिद्ध अर्थ देकर उसकी उद्धारमयता को प्रवेश दिया है, तो कहीं काव्य-पंक्ति में शब्दों की प्रयोग-स्थिति और क्रम विपर्यस्तता से बह्वर्थकता और अर्थ की वर्तुलता का निवेश प्रस्तुत किया है, तो कहीं शब्द के बहिरंग से अर्थ के अन्तरंग का सस्पर्श कर अर्थ की सूक्ष्मता का निदेश प्रस्तुत किया है तो कहीं शब्द की व्याप्ति मूलकता को प्रसारात्मक संश्लेष दिया है, कहीं शब्द की पदयोकता को अस्तित्व-विशेष दिया है, तो कहीं उसकी गुणबोधकता को अतुल-अशेष सिद्ध किया है और अन्ततः कहीं शब्द को प्रतिकूलार्थ देकर शोभन बताया है, तो कहीं शब्द के कुरूप-विकृत ढाँचे से भी अभीष्ट अर्थ का दोहन किया है।

---

१. विमसेट और ब्रुक : लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शार्ट हिस्ट्री, पृ० ६४३

२. अर्थ निर्णय पाठक की कोरी अनुभूति का विषय नहीं, बल्कि प्रस्तुत काव्य के सूक्ष्म विश्लेषण से सम्बद्ध है। डा० नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ४९

'गीतिका' के पन्द्रहवें गीत 'जागो जीवन-धनिके' के दूसरे चरण में प्रयुक्त 'भारती' शब्द में शब्द को व्युत्पत्त्यर्थ प्रदान किया गया है :—

"गहकर अकल तूलि, रँग-रँग कर
बहु जीवनोपाय, भर दो घर
भारति भारत को फिर दो वर
ज्ञान - विपथि - खनिके !"३

यहाँ 'भारती' का 'भरतनोधि' से निस्सृत धात्वर्थ कवि का अभीष्ट है।४ अर्थ है 'भरनेवाली' अर्थात् लक्ष्मी।५ 'भारती' का सामान्य अर्थ सरस्वती अथवा भारतवाली—भारतमाता है। 'भारती' का 'लक्ष्मी' अर्थ तो व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ से ही सम्भव है। ऐसे ही 'प्रिय यामिनी जागी' में 'यामिनी' का अर्थ 'प्रहरोंवाली' तथा 'सखि, वसन्त आया' के 'पिक-स्वर नभ सर छाया' में 'नभ' का अर्थ 'न भाति'—नहीं शोभने वाला, श्री हीन व्यक्त है।५ 'वर दे वीणा-वादिनि वरदे' के 'भारत में भर दे, में भी 'भारत' का अर्थ सदैव से 'भा में रत'—प्रकाश में लीन रहने वाला भारतवर्ष है, जो आज अपनी प्रभा खो रहा है।

शब्द को प्रतिज्ञा-ज्ञापित और वैयक्तिक अर्थ देने के उदाहरण क्रमश 'गीतिका' के पाँचवें और उन्नीसवें गीत में प्राप्त होते हैं। 'नयनों में हेर प्रिये !' का प्रथम चरण इस प्रकार है—

"तुम्हीं हृदय के सिंहासन के
महाराज हो तन के मन के
मेरे मरण और जीवन के
कारण जाम पिये !"६

यहाँ 'कारण' को तन्त्राचार्यों द्वारा निष्पन्न 'मदिरा' की मदिर अर्थवत्ता दी गयी है। ऐसे ही—

"सरि, धीरे बह री !
व्याकुल उर, दूर मधुर
तू निष्ठुर रह री !"७ में 'दूर मधुर' का 'मधुर' 'प्रिय' अर्थ में व्यवहृत हुआ है।८ यह कवि का निजी अर्थ है। इसी प्रकार 'आराधना' के प्रथम गीत—

३. निराला · गीतिका (पंचम संस्करण) पृष्ठ १७
४ निराला : प्रबन्ध-प्रतिमा (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ३०६
५. आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री : साहित्य-दर्शन, पृष्ठ १६४
६. निराला : गीतिका (पंचम संस्करण), पृ० ७
७ निराला : गीतिका (पंचम संस्करण), पृ० २१
८. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : कवि निराला (प्रथम संस्करण), पृ० १०६

"पद्मा के पद को पाकर
हे सविते ! कविता को वह वर दो !"९ में 'पद्मा के पद' से 'कमल' अर्थ की अभिव्यक्ति की गयी है।

प्रचलित अर्थ-बोध से परे शब्द की स्वयं-सिद्ध अपर अर्थवत्ता को नियोजित करने के दृष्टान्त 'अनामिका' की कविताओं में प्राप्त होते हैं। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से कवि ने यहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिनकी अर्थवत्ता संकोचन के माध्यम रूढ़ हो गयी है, पर स्वयं उसने संकोच को विस्तार दिया है। 'प्रेयसी' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ हैं—

"सन्देशवाहक बलाहक विदेश के
प्रणय के प्रलय में सीमा सब खो गयी।"१०

यहाँ 'प्रलय' का संकुचित और रूढ़ अर्थ नाश, संहार आदि नहीं है, बल्कि 'प्रलय' का अर्थ है विशेष रूप में लीन हो जाना। दूसरा उदाहरण 'सरोज-स्मृति' कविता की निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

"धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण
बाल्य की केलियों का प्राङ्गण।"११

यहाँ कवि ने जिस 'केलि' शब्द का प्रयोग किया है, उसका अर्थ-संकोचन होने से रूढ़ अर्थ रति-क्रीड़ा ही शेष रह गया है। परन्तु 'निराला' ने इस अर्थवत्ता को विस्तार दिया है और उसे किसी एक क्रीड़ा से परिबद्ध नहीं कर व्यापक क्रीड़ा-अर्थ में प्रस्तुत किया है। ऐसा ही एक और उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

"फिर गंगा-तट सैकत-विहार
करने को लेकर साथ चला
तू गहकर चली हाथ चपला।"१२

यहाँ भी 'चपला' शब्द का प्रयोग विशेष संकुचित अर्थ में न कर सामान्य-विस्तृत अर्थ में किया गया है। 'चपला' के विशेषार्थ तीन हैं—लक्ष्मी, बिजली और नौका। सामान्यार्थ में चपला 'चंचल' को कहा जाएगा। सरोज के लिए प्रचलित अर्थ-बोध से इतर स्वयं-सिद्ध सामान्य-अर्थ ही कवि को अभीष्ट है।

---

९ निराला : आराधना (प्रथम संस्करण), पृ० १
१०. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण) पृ० ४
११. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृ० १२६
१२. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृ० १२१

'निराला' ने शब्द की प्रयोग-स्थिति से बहुर्थकता का नियोजन किया है। दृष्टान्तः 'अनामिका' की 'बहुत दिनों बाद खुला आसमान' पंक्ति ली जा सकती है। यहाँ 'खुला' शब्द का प्रयोग इस कौशल से किया गया है कि इसके विशेषण-मूलक और क्रिया-मूलक द्विविध अर्थ प्रत्यक्ष हो उठते हैं। विशेषण-मूलक अर्थ 'बहुत दिनों बाद का यह खुला हुआ आसमान' है, जबकि क्रिया-मूलक अर्थ 'आसमान साफ हो गया है। दोनों ही अर्थों के ग्रहण में परवर्ती पंक्ति 'निकली है धूप, हुआ खुश जहान' के अर्थ-बोध में कहीं कोई बाधा या व्याघात नहीं आता। इसी प्रकार 'विनय' कविता की—

"दूर गाँव की कोई वामा
आये मन्द चरण अभिरामा
उतरे जल में अवसन श्यामा
अंकित उर-छवि सुन्दरतर हो।"[१३]

पंक्तियों में 'दूर' शब्द का प्रयोग-कौशल द्विविध अर्थ की सृष्टि करता है। पहला अर्थ है कि दूर गाँव की कोई नारी, जो अभिरामा है, मन्द चाल से घाट पर आये। दूसरा अर्थ है कि दूर पर (जल में) गाँव की कोई नारी, जो अभिरामा है, मन्द चाल से आकर उतरे।

शब्दों की प्रयोग-स्थिति के अन्तर्गत क्रम-विपर्यय का कौशल भी है, जिसके सहारे अर्थ का वर्त्तुल अभिनिवेश किया गया है। 'निराला' की निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों—

मौन रही हार
प्रिय-पथ पर चलती
सब कहते शृङ्गार।"[१४]

में 'सब कहते शृङ्गार' अर्थ की वर्त्तुलता का उदाहरण है, जिसको समझ लेने के बाद ही सही अर्थ-ग्रहण हो पाता है कि सब शृङ्गार मेरे प्रिय-पथ पर चलने की बात कहते हैं।

शब्द के बहिरंग से अर्थ के अन्तरंग का संस्पर्श कर अर्थ सूक्ष्मता के नियोजन का प्रत्यक्ष 'निराला' की 'सन्ध्या-सुन्दरी' की इन पंक्तियों में किया जा सकता है—

"दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे।"[१५]

१३ निराला . अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ-८१
१४. निराला . गीतिका (पंचम संस्कार), पृष्ठ-८
१५. निराला : परिमल (षष्ठावृत्ति), पृष्ठ-१३५

यहाँ 'आसमान' शब्द विचारणीय है। कवि ने जैसे 'आसमान' के 'आ' और 'मा' से अनन्त आकाश की सम्पूर्ण व्याप्ति का प्रतिबोध करा दिया है। यहाँ से वहाँ तक सारा आकाश मेघमय है। ऐसा ही अर्थ नियोजन 'अनामिका' की 'बहुत दिनों बाद खुला आसमान' पंक्ति में भी है। जहाँ 'खुला' के 'आकार' और 'आ' से 'मा' तक का फैलाव आसमान के पूर्णतः खुल-खिल जाने के चित्र को व्यक्त करता है। 'सन्ध्या-सुन्दरी' कविता की ही एक पंक्ति है—'सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा चुप चुप चुप, है गूँज रहा सब कहीं!' इस पंक्ति में 'सिर्फ' की जगह कवि 'मात्र' का भी प्रयोग कर सकता था अथवा 'सिर्फ़ एक' को मिलाकर वह 'एकमात्र' का प्रयोग कर सकता था, पर 'सिर्फ' में रेफ के बाद 'फ़' का जो उच्चार-संकोचन है वह अर्थवत्ता को इसके सारे पर्यायों से अधिकाधिक तीव्र और सटीक प्रतिबोध दे डालता है। इस पंक्ति की आवृत्ति करने के पूर्व वह संस्कृत शब्दावली का जो प्रवेश उत्पन्न कर चुका है उसे भी समतल पर उतार देता है। अतः पाठक को कोई झटका भी नहीं लग पाता। सच मानी में कवि की दृष्टि यहाँ शब्द की जाति पर नहीं होकर गुण पर है, जिसकी परख विरले भावक को हो पाती है।

'निराला' ने शब्द की व्याप्तिमूलकता से भी अर्थ को ध्वनित किया है। 'गीतिका' के तीसवें गीत की—

"तोल तू उच्च-नीच समतोल,
एक तरु के-से सुमन अमोल!" १६ पंक्तियों में उच्च, नीच व्याप्तिमूलक अर्थ देने वाले हैं। अर्थ है, तू ऊँच और नीच को समरूप में तौलो। कुल जाति, रंग-रूप, पद ज्ञान, धन-सम्पत्ति, सभ्यता-संस्कृति, वृत्ति-कर्म आदि किसी भी क्षेत्र में ऊँच-नीच का भाव न रहा यहाँ 'ऊँच-नीच' की यह अर्थ व्याप्ति द्रष्टव्य है।

शब्द-व्याप्ति के अतिरिक्त कवि ने पदद्योतकता के माध्यम से भी अर्थ-बोध कराया है। 'बादल-राग' की—

"अहे कार्य से गत कारण पर,
निराकार हैं तीनों मिले भुवन
बने नयन - अंजन!" १७ पंक्तियों में प्रयुक्त 'कारण-पर' शब्द पदद्योतक अर्थ का उदाहरण है। 'कारण पर' का अर्थ सबसे बड़ा कारण है, निमित्त और उपादान।

१६. निराला : गीतिका (पंचम संस्करण) पृष्ठ-३५
१७. निराला : परिमल (षष्ठावृत्ति), पृष्ठ-१८५

कारण से भी तात्पर्य ऊपरी ईश्वर है जिसका प्रयोग तुलसी ने भी किया है—

"वन्देऽहं तं शेष कारण परं रामाख्यमीशं हरिम् ।" १८

इसी प्रकार 'राम की शक्ति पूजा' की 'संचित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर' के 'त्रिकुटी' और 'निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर' के 'पुरश्चरण' में पदद्योतक अर्थ सन्निहित है।

'निराला' ने अर्थ नियोजन गुण-बोधक शब्द के सहारे भी किया है। 'स्नेह निर्झर बह गया है' कि—

"आम की यह डाल जो सूखी दिखी
कह रही है अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ, जीवन दह गया है।" १९

पंक्तियों में 'पिक' और 'शिखी' गुण-बोधक शब्द ही हैं। फलतः 'पिक' और 'शिखी' का अर्थ कोकिला और मोरनी में सीमित नहीं होकर गायिका और नर्तकी तरुणी तक की बोध यात्रा करा देता है।

'निराला' ने शब्द को प्रतिकूलार्थ देकर भी अर्थ की नियोजना की है। 'अर्चना' की 'प्रिय के हाथ लगाये जागी' शीर्षक कविता की 'ऐसी मैं सो गयी अभागी' पंक्ति में 'अभागी' का एक अर्थ सौभाग्यशालिनी भी है। प्रिय के कर का कोमल स्पर्श ही उस प्रणयिनी नायिका को जगा सका। इससे बढ़कर उसका सौभाग्य भला और क्या हो सकता है? यहाँ 'अभागी' में ही 'सौभाग्यशालिनी' होने की गूँज है, सुहाग-भरी होने का भाव है। यह प्रतिकूलार्थक प्रयोग घनानन्द के 'बिसासी' जैसा ही प्रयोग है, जिससे 'अविश्वासी' का अर्थ प्रस्फुट हो पड़ता है। पर घनानन्द ने भावात्मक से अभावात्मक की अर्थ-दिशा में प्रस्थान किया था, जबकि 'निराला' ने अभावात्मक से भावात्मक की अर्थ-दिशा स्पष्ट की है।

कवि ने शब्द को कुरूप विकृत कर उसे उपेक्षित तथा तिरस्कारपूर्ण अर्थ भी दिया है। 'प्रेम-संगीत'२० की 'बम्हन का लड़का मैं प्यार उसे करता हूँ' पंक्ति में तथा 'गर्म पकौड़ी' की 'तेरे लिए छोड़ी मैंने बम्हन की पकायी घी की कचौड़ी' में 'बम्हन' को 'ब्राह्मण' से अपभ्रष्ट कर अत्यन्त उपेक्षित और तिरस्कारमयी अर्थवत्ता दी गयी है, जिससे ब्राह्मणत्व पूर्णतः उपहासास्पद हो गया है।

---

१८. महाकवि तुलसीदास : श्रीरामचरितमानस (गीता प्रेस, गुटका, अड़तालीसवाँ संस्करण, सं० २०२४) पृष्ठ ३४।
१९. निराला : अणिमा द्रष्टव्य
२०. निराला : नये पत्ते (१९६२ ई०) पृष्ठ ४६

शब्दों के माध्यम से 'निराला' की चर्चित अर्थ-नियोजन-कला अपनी व्याप्ति में सीरदेव की 'पदार्थवृत्ति' में वर्णित अर्थवत्ता की तीनों कोटियों को स्वायत्त करती है। 'पदार्थवृत्ति' में लौकिक, अन्वय-व्यतिरेक-समाधिगम्य तथा प्रतिज्ञा ज्ञापित अर्थवत्ता की चर्चा हुई है।२१ इनमें लौकिक अर्थ वाक्यार्थ है, अन्वय-व्यतिरेकी अर्थ प्रकृति-प्रत्यय-परक है तथा प्रतिज्ञा-ज्ञापित अर्थ आचार्यों द्वारा शब्द-विशेष के लिए गढ़े गये अर्थ-विशेष हैं। 'निराला' ने लौकिक और अन्वय-व्यतिरेकी का व्यवहार तो किया ही है, पर प्रतिज्ञा-ज्ञापित का प्रयोग करते समय आचार्यों की शब्दार्थ-निर्मातृ-क्षमता के साथ-साथ निजी अर्थ-निर्मातृ-क्षमता का भी प्रयोग किया है।

छायावादी अन्य कवियों ने जहाँ सामान्यतः समास-विधान किया है, वहाँ 'निराला' का समास-विधान औरों से विशिष्ट है। इसका कारण उनके द्वारा सामासिक पदों का विपर्यस्त किया जाना है। संस्कृत व्याकरण-सम्मत समास-विधान की उन्होंने अवहेलना की है तथा मौलिक दृष्टि से समास संरचना को प्रश्रय दिया है। 'कौन तम के पार रे कह' गीत की 'गन्ध व्याकुल कूल उर-सर' में उनकी यह प्रवृत्ति द्रष्टव्य है। उन्होंने 'उर-सर-कूल' न लिखकर 'कूल-उर-सर' लिखा है। इसी प्रकार 'तरंगो के प्रति'२२ शीर्षक कविता मे—

> "सोह रहा है हरा
> क्षीण कटि में अम्बर-शैवाल!"

तथा

> "तिमिर तैर कर
> भुज-मृणाल से सलिल काटती!" जैसी पंक्तियाँ हैं।

यहाँ 'अम्बर शैवाल' की जगह 'शैवाल-अम्बर' और 'भुज-मृणाल' की जगह मृणाल-भुज होना चाहिए था, क्योंकि धारा में सेवार-रूप वस्त्र है और मृणाल-रूपी भुजा। पर कवि ने इसका विपर्यस्त क्रम रखा है। 'निराला'-काव्य के अध्येता को अर्थ ग्रहण करने के लिए उनकी इस प्रवृत्ति से परिचय आवश्यक है। बिना उनकी इस अर्थ-योजना-कला से परिचित हुए उनके साथ न्याय नहीं किया जा सकता।

'निराला' ने क्रिया का समर्थ प्रयोग किया है। इसके द्वारा अर्थ को उन्होंने विराटता और गहनता प्रदान की है। श्रेष्ठ आलोचकों की यह निश्चित धारणा है कि कविता में कवि का कौशल उसके क्रिया-प्रयोग से ही जाना जा सकता है। जो कवि जितना ही उत्तम होता है उसके क्रिया-प्रयोग भी उतने ही समर्थ होते हैं। वह विशेषण के आकर्षण से परे होता है। 'निराला' ने 'धारा' शीर्षक कविता में लिखा है—

---

२१. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृष्ठ ९२-९३

२२. निराला : अपरा (तृतीय संस्करण पृष्ठ—६२-६३

"बहने दो,
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है ?"२३

यहाँ 'बाढ़' का अर्थ जड़ 'फ्लड' नहीं है बाढ़ चेतन है, मानवीकृत है। नदी की यौवन गर्विता बाढ़ अकड़ अभिमानवाली है, उच्छृङ्खल है, वह झुकना नहीं जानती है। 'झुकती है' क्रिया सार्थक है। इस क्रिया ने बाढ़ को मानवीकृत कर दिया है। बाढ़ की पंक्ति में 'कहती है' का प्रयोग है, जिससे उसका मानवीकरण और स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए 'झुकती है' की जगह 'घटती है' 'कमती है' जैसी क्रिया का प्रयोग नहीं है। 'निराला' क्रिया-प्रयोग में कुशल हैं। क्रिया-प्रयोग से साभिप्राय बिम्ब उजागर करना और साभिप्राय मानवीकरण करना 'निराला' का बहुत समर्थ वैशिष्ट्य है। यहाँ 'झुकती' क्रिया यौवन-मद के कारण भी संगत है। यौवन झुकना नहीं जानता है और मद भी झुकने नहीं देता है। कवि ने 'यौवन मद की बाढ़' के साथ, जड़कर्त्ता (तथा कथित) के साथ, इसी भाव को व्यक्त करने के लिए, चेतन क्रिया 'झुकती है' का प्रयोग किया है। एक सम्भावना यह भी की जा सकती है कि 'यौवन-मद की बाढ़' में 'मदमय यौवन रूपी बाढ़' रूपक की स्थिति है, जिसे 'निराला' ने अपने एक क्रिया-प्रयोग 'झुकती है' से विपर्यस्त कर दिया है। यौवन तनना जानता है, पर झुकना नहीं। 'निराला' का यह क्रिया-प्रयोग चमत्कार पूर्ण पर सार्थक है। अत ऐसे समर्थ क्रिया-प्रयोग पर एक आलोचक का यह कथन कि "यहाँ नदी की बाढ़ का झुकना भाषा की दृष्टि से सुसगत प्रयोग नहीं है· न 'झुकती' शब्द में वह शक्ति ही है कि वह अभीष्ट अर्थ की यथार्थ व्यजना कर सके, न इसकी चित्रात्मकता ही उपयुक्त अर्थ-व्यजना का आधार लेती है"२४ सर्वथा अनुचित है।

प्राय· कवि के विषय में यह कहा जाता है कि उसे पिष्टोक्तियों से बचना चाहिए, लेकिन उससे भी उच्चतर काव्य सहिता यह है कि कवि को सभी स्तरों पर पिष्टोक्तियों का पारंगत होना चाहिए। 'निराला' के काव्य में जो भी पिष्टोक्ति आयी है, उसने कवि के इसी कौशल को स्थापित किया है। कंकण, किंकिणी और नूपुर के बजने की पिष्टोक्ति मध्ययुगीन तुलसी और नन्ददास से आधुनिक युगीन प्रसाद तक ने की है। पर 'निराला' जब आभरण के वाद्य में इनको चुनते हैं तब इनमें अभिनवता का एक सुकोमल संचार कर देते हैं। तुलसी ने—

---

२३ निराला : अपरा (तृतीय संस्करण), पृ० १०५
२४. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : कवि निराला (प्रथम संस्करण), पृ० ९७

"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदयँ गुनि॥"२५—लिखकर कंकण, किंकिणी और नूपुर तीनों ही की वाद्य-ध्वनि के लिए केवल एक शब्द 'धुनि' का प्रयोग किया है। नन्ददास ने—
"नूपुर कंकण, किंकिनि, करतल मंजुल मुरली
ताल, मृदंग उमंग चंग एकै सुर जुरली।"२६
लिखकर भी अलग-अलग वाद्य-ध्वनियों का निर्देश नहीं किया है। साथ ही आभरण-स्वर के साथ-साथ वाद्य-ध्वनियों को एकाकार कर दिया है। प्रसाद ने कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे, लिखकर दो आभरणों की अलग-अलग क्रियस्थिति और ध्वनि की जानकारी करायी है। पर श्रौत बिम्ब वे इन्हीं दो आभरणों का उद्रिक्त कर सके हैं, किंकिणी पर उनका ध्यान नहीं गया है। परन्तु 'निराला' ने—
"क्वण-क्वण कर कंकण
प्रिय किण-किण रव किंकिणी
रणन-रणन नूपुर
उरलाज, लौट रंकिणी
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार!"२७ में सारी पिष्टोक्तियों से अलग अपना नैपुण्य सिद्ध किया है। यहाँ कंकण की ध्वनि 'क्वण-क्वण' है, किंकिणी का बोल 'किण-किण' और नूपुर 'रणन-रणन' करते हैं। साथ ही पायल भी मुखर है। यदि तुलसी और नन्ददास चाहते और 'निराला' की ही तरह अलग-अलग आभरण-ध्वनि का उल्लेख करते तो इससे उनके मूल वर्ण्य को कोई क्षति नहीं पहुँचती और उनका पिष्टोक्ति-कौशल भी प्रकट हो जाता, पर वे ऐसा नहीं कर सके हैं। 'निराला' की 'गीतिका' के एक गीत का बन्द इस प्रकार है—
"देख दिव्य छवि लोचन हारे
रूप अतन्द्र, चन्द्र-मुख, श्रम-रुचि
पलक तरलतम, मृग दृग-तारे!"२८
मुख को चन्द्र से तुलित करना पुरानी कवि प्रसिद्धि है। पर ऐसी पिष्टोक्ति को ग्रहण करते समय भी कवि द्वारा अर्थ की नवीन उद्भावना की गयी है। ज्ञातव्य है कि चन्द्रमा में कलंक की कालिमा

२५. महाकवि तुलसी : श्री रामचरित मानस (गीता प्रेस, गुटका, सं० २०२४, ४८ वाँ सं०), पृ० १६१
२६. देवेन्द्रनाथ शर्मा : ब्रजभाषा की विभूतियाँ (प्रथम संस्करण), पृ० ६४
२७. निराला : गीतिका (पंचम संस्करण), पृ० ८
२८. निराला: गीतिका (पंचम संस्करण), पृष्ठ—४३

होती है और वह काली छाया मृग की तरह दीखती है। 'पलक तरल-तम'—अर्थात् उस मुखड़े की पलकें चन्द्रमा के तरल तम की तरह हैं और दृग-तारे मृग हैं। इस प्रकार चन्द्र-मुख की पिष्टोक्ति का प्रयोग करते हुए भी कवि ने अभिनव अर्थ-उद्भावना की निजी सामर्थ्य का द्योतन किया है। 'गीतिका' के एक दूसरे गीत में कवि ने लिखा है—

"लता मुकुल हार गन्ध भार भर
बही पवन बन्द मन्द मन्दतर
जागी नयनों में वन-यौवन की माया।"२९

यहाँ कवि ने शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन अर्थात् त्रिविध समीर की पिष्टोक्ति को तो ग्रहण किया है, परन्तु उसका क्रम विपर्यस्त कर अपनी अर्थ-नियोजन शक्ति का कुशल परिचय भी दिया है। त्रिविध-समीर-विषयक पिष्टोक्ति में अब तक क्रमशः शीतल, मन्द सुगन्ध की बात कही जाती रही है। लेकिन 'निराला' ने पहले गन्ध का उल्लेख किया है फिर मन्द का, और शीतलता का तो स्पष्ट अनुल्लेख कर उसे 'जागी नयनों में वन-यौवन की माया' के सहारे ही व्यंजित कर दिया है।

'निराला'-काव्य में अलंकार के सहारे भी सुन्दर अर्थ-नियोजन के उदाहरण प्राप्त होते हैं। कवि ने अलंकारों में श्लेष और समासोक्ति के सहारे अर्थ-द्वयता तथा सन्देह के सहारे अर्थ चमत्कृति की सृष्टि की है।

शब्दों में श्लिष्टार्थ की शक्ति को स्वीकारते हुए विमसेट एण्ड ब्रुक्स ने लिखा है कि शब्द का अर्थ छुरे के व्यापार की तरह ही स्थिर नहीं होता, क्योंकि जिन स्थितियों में छुरा कार्य करता है, शब्दों के अर्थ-प्रकटन की स्थितियाँ भी उससे मिलती-जुलती हैं। अपारिभाषिक पदोंवाली संवेदनशील रचनाओं में शब्दों को अपनी अर्थवत्ता परिवर्तित करने की शक्ति अवश्य होनी चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो भाषा लचक के साथ अपनी सूक्ष्मदर्शिता खोती हुई हमारे उपयोग की शक्तियों को भी खो देती है।३० भारतीय साहित्यों में तो श्लिष्टार्थ के सहारे शब्द-नियोजन की कला संस्कृत में अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, तन्त्र, मीमांसा तथा काव्य में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है।३१ 'निराला' के काव्य में श्लिष्टार्थ के उदाहरण भरे पड़े हैं। 'गीतिका' के तेरहवें गीत में—

२९. निराला. गीतिका (पंचम संस्करण), पृष्ठ—५
३०. लिटरेरी क्रिटिसिज्म. ए शार्ट हिस्ट्री (आक्स्फोर्ड हाउस, लंडन), पृष्ठ—६४१
३१ लुइस रेनू का 'संस्कृत शब्दावली में प्रधान और अप्रधान अर्थ, लेखः हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक), पृष्ठ - १९८

"बादल में आये जीवन धन
अपल नयन सुवास यौवन नव
देख रही तरुणी कोमलतम !"३२ के 'जीवन-धन' में श्लेष के सहारे जीवन में दो अर्थ नियोजित हैं। 'जीवन-धन' का एक अर्थ 'प्राण-धन प्रिय' है, जो बादल में प्रतिबिम्बित हो रहा है और दूसरा अर्थ जल का प्रभूत भंडार है। 'गीतिका' के अड़सठवें गीत 'भारति, जय विजय करे' की पंक्तियां हैं—

"धोता शुचि चरण-युगल
स्तव कर बहु अर्थ भरे !"३३

यहाँ 'बहु अर्थ भरे, में द्विविध अर्थ निहित हैं। प्रथमतः बहुत प्रकार के मतलबों से भरे तथा द्वितीयत: बहुत प्रकार के द्रव्यों से भरे। 'अपरा' में प्रभाती के अन्तिम चरण—

"वासना-प्रेयसी बार-बार
श्रुति-मधुर मन्द स्वर से पुकार
कहती प्रतिदिन के उपवन के
जीवन में प्रिय आयी बहार
बहती इस विमल वायु में
बह चलने का बल तो लो !"३४

में प्रयुक्त 'बल तो लो' शब्द से दो अर्थ बिम्बित होते हैं। एक अर्थ है बल को तो ले लो, दूसरा अर्थ है बल को तौलो, मापो। 'परिमल' का एक गीत है—'सुमन भरन लिये, सखि, वसन्त गया।' यहाँ 'भर' शब्द की अर्थ-द्वयता द्रष्टव्य है। 'सुमन भर न लिये' का एक अर्थ है कि फूल तक नहीं लिया, जब कि दूसरा अर्थ है—फूलों को चुन-चुनकर भर नहीं लिया। 'अणिमा' के प्रसिद्ध गीत 'स्नेह निर्झर बह गया है' की—

"नहीं आते, पंक्ति में वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ, जीवन दह गया है !"

में 'जीवन' और 'बह' के दो दो अर्थ हैं। एक यह कि ज़िन्दगी जल गयी है, दूसरे ज़िन्दगी बहकर निश्शेष हो गयी है। तीसरे रस (जीवन) सूख गया है, चौथे रस बहकर नि:शेष हो गया है। 'सरोज-स्मृति' की —

---

३२. निराला: गीतिका (पंचम संस्करण), पृष्ठ—१५
३३. निराला: गीतिका (पंचम संस्करण), पृष्ठ—७३
३४. निराला: अपरा (तृतीय संस्करण), पृष्ठ—१८

"माँ की कुछ शिक्षा मैंने दी
पुष्प-सेज तेरी स्वयं रची"३५

की 'कुलशिक्षा' का अर्थ सारी शिक्षा और पारिवारिक शिक्षा दोनों ही है। इसी कविता की—

"देखा सरोज को धन्य धाम
शुचि वर के कर, कुलीन लखकर
है काम तुम्हारा धर्मोत्तर !"३६

में 'धर्मोत्तर' के 'धर्मश्रेष्ठ' और 'धर्मानुगत' दोनों ही अर्थ हैं। 'गीतिका' के 'देकर अन्तिम कर रवि गये अपर पार' में 'अन्तिमकर' का अर्थ आखिरी किरण तो है ही, लेकिन 'पार' के साहचर्य सम्बन्ध के सहारे दूसरा अर्थ 'आखिरी महसूल या लेवा' भी पाठक के मस्तिष्क में कौंध जाता है। 'गीतिका' के 'कौन तम के पार रे कह' में 'उदय में तम भेद सुनयन' के सुनयन का अर्थ उत्तम नेत्र और सूर्य दोनों ही है। 'परिमल' के बादल-राग, संख्या—१ की 'झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर' पंक्ति में 'घनघोर' के भी दो अर्थ हैं। एक अर्थ क्रिया विशेषण-मूलक 'अत्यन्त गहन' है, दूसरा विशेषण-संज्ञामूलक 'घोर बादल'। इसी प्रकार 'अनामिका' की 'विनय' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में अर्थद्वयता को व्यक्त करने वाला शब्द-संयोजन हुआ है—

"तट हों विटप-छाँह के निर्जन
सस्मित कलि दल चुम्बित जलकण
शीतल-शीतल बहे समीरण
कूजें द्रुम विहंग-गण, वर दो !"३७

यहाँ 'कलिदल' के दो अर्थ हैं, दल का एक अर्थ है 'समूह' और दूसरा अर्थ 'पाँखुड़ी'। 'अलि घिर आये घन पावस के'३८ की 'जगती के प्राणों में स्मर-शर वेध गये, कसके !' में 'कसके' शब्द के 'कसकर' और 'कसकता है'—दोनों ही अर्थ हैं। इसी गीत की परवर्ती पंक्तियाँ हैं—

"छोड़ गये गृह जबसे प्रियतम
बीते कितने दृश्य मनोरम
क्या मैं ऐसी ही हूँ अक्षम
जो न रहे बसके !"

३५. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ—१३३
३६. निराला : अनामिका (द्वतीय संस्करण), पृष्ठ—१२८
३७. निराला : अनामिका (द्वतीय संस्करण), पृष्ठ—८१
३८. निराला . अपरा (तृतीय संस्करण), पृष्ठ—६४

यहाँ 'बसके' के 'वश में होकर, और 'बसकर' अर्थात् 'टिककर' दोनों ही अर्थ प्रत्यक्ष होते हैं। 'अपरा' की 'स्वागत' शीर्षक कविता की 'स्वागत हे प्रियदर्शन, आये, नवजीवन भर लाये' में 'नव-जीवन' का अर्थ नये प्राण और नया जल दोनों ही है। 'बादल' शीर्षक कविता की—

"गरजे सावन के घन घिर-घिर
नाचे मोर बनों में फिर-फिर।"३९

में 'फिर-फिर' की द्व्यर्थकता स्पष्ट है। 'फिर-फिर' का एक अर्थ 'घूम-घूमकर' 'बूल-बूलकर' है तथा दूसरा अर्थ 'बारम्बार' है। 'गीतिका' के छियालीसवें गीत—

"रंग गयी पग-पग धन्य धरा,
हुई जग जगमग मनोहरा।" ४०

में 'पग-पग' के दो अर्थ हैं। एक अर्थ चरण-चरण में रंग जाना है और दूसरा अर्थ 'पग-पग कर' शराबोर होकर रंगना है। इस प्रकार श्लेष के सहारे निराला ने अपने काव्य में अर्थद्वयता की अनेकशः सृष्टि की है। ऐसी सृष्टि में एक अर्थ तो सद्यः प्रत्यक्ष ही रहा है, पर दूसरा अर्थ अप्रत्यक्ष रूप में नियोजित रहा है, तथापि यह अप्रत्यक्ष अर्थ सन्दर्भ-वश अधिक स्थलों पर अधिक महत्वपूर्ण हो उठा है। भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' में इसी शब्द-सामर्थ्य को उद्घाटित करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार एक दीपक अनेक वस्तुओं को एक साथ प्रकाशित कर सकता है उसी प्रकार एक अर्थ में कहा हुआ शब्द अन्यार्थों को भी प्रकाशित कर देता है। ४१

समासोक्ति अलंकार द्वारा अर्थद्वयता प्रस्तुत करने का अन्यतम उदाहरण 'निराला' की 'जुही की कली' है। अर्थ नियोजन की यह शैली मध्यकालीन हिन्दी काव्य-साहित्य मे अत्यन्त प्रसिद्ध रही है और जायसी जैसे कवियों ने इसका प्रचुर प्रयोग किया है। अर्थ की चमत्कृति का उदा-हरण 'निराला' ने 'परिमल' की लम्बी कविता 'माया' में आद्यन्त सन्देह अलंकार का प्रयोग कर प्रस्तुत किया है।

'निराला' की अर्थ-नियोजन-कला का छठा तत्व प्रतीक है 'अनामिका' की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतीक द्वारा अर्थ नियोजन का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

"मेरे नभ के बादल यदि न कटे
चन्द्र रह गया ढका
तिमिर-रात को तिरकर यदि न अटे
लेश गगन-भास का।" ४२

---

३९. निराला : अपरा (तृतीय संस्करण), पृष्ठ—३२
४०. निराला : गीतिका (पंचम संस्करण), पृष्ठ—५१
४१ भर्तृहरिः वाक्यपदीय २.३०१—३
४२. निराला · अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृ० ११६

यहाँ 'नभ' जीवन का प्रतीक है—'बादल' दुःख का और 'चन्द्र' शीतल सुख का पुन. 'तिमिर-रात' दुःख का और 'गगन-भास' प्रखर सुख का प्रतीक बनकर आया है। 'निराला' की एक दूसरी प्रसिद्ध कविता—

"मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा
स्तब्ध दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?" ४३

में 'मरु' शुष्क जीवन का और 'तरु' आशा-अभिलाषा का प्रतीक है। उनकी 'स्नेह निर्झर बह गया है' की 'बह रही है हृदय पर केवल अमा' में 'अमा' गहन दुःख का ही प्रतीक है।

बिम्ब-कला की दृष्टि से 'निराला' ने मुख्यतः गत्यात्मक-अनुरणात्मक तथा साहचर्य-परक बिम्बों का विधान किया है, जिससे अर्थ को स्पष्टता मिली है। अनुरणात्मक-गत्यात्मक बिम्ब विधान का उदाहरण 'बादल-राग' की निम्नलिखित पंक्तियों में प्राप्त होता है—

"धँसता दलदल, हँसता है नद खल - खल
बहता, कहता, कुल-कुल, कल-कल, कल-कल !" ४४

यहाँ घोर वृष्टि से कगारों पर टूटते हुए अरार, धँसती-दलदलाती जमीन, खल-खल हँसता नद-प्रवाहें, वृष्टि की बौछार के कारण नद से कुल-कुल, कल-कल की उभरती स्पष्ट ध्वनि अर्थ का मार्मिक भावन कराती है। चाक्षुष और श्रौत दोनों प्रकार की संवेदनाओं के कारण अर्थ बोध कहीं तीव्र हो जाता है। 'राम की शक्ति पूजा' की 'ले लिया हस्त लक-लक करता वह महाफलक' में भी 'लक लक' की गत्यात्मकता के कारण महाफलक का जो बिम्ब उभरता है वह अर्थ को तत्क्षण ग्राह्य बना देता है। 'सरोज-स्मृति' की—

"उमड़ता ऊर्ध्व को कल सलील
जल टलमल करता नील-नील।"४५

पंक्तियों में 'टलमल' की गत्यात्मकता भी ऐसा ही बिम्ब उभार कर सद्यः अर्थ-प्रत्यक्ष करा देती है। 'गीतिका' के 'कण-कण कर कंकण, प्रिय किण-किण रव किंकिणी' वाले पद में अनुरणात्मकता द्वारा जो श्रौत बिम्ब उकेरा गया है उससे भी अर्थ-बोध को सहजतः तीव्र गूँज-अनुगूँज प्राप्त होती है।

साहचर्य-परक बिम्ब-विधान का उदाहरण 'अनामिका' की 'बहुत दिनों बाद खुला आसमान' कविता है। इसमें एक पर-एक जितने बिम्ब उठाये गये हैं वे सबके सब सामान्य जीवन में अनुभूत

---

४३. निराला : अपरा (तृतीय संस्करण), पृ० ४९
४४ निराला : परिमल (षष्ठावृत्ति), पृ० १७६
४५. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण), १२६

हैं। खुलता आसमान, निकलती धूप, खुश होता जहान, दिखतीं दिशाएँ—इनसे सबका पुराना साहचर्य है। इस कविता में नर-क्षेत्र के अन्तर्गत मनुष्य, मनुष्य के अन्तर्गत बच्चे-बच्चियाँ, कामकाजी लोग, पहलवान, पनिहारिनें, नरेतर क्षेत्र के अन्तर्गत पशु, पशु के अन्तर्गत गाय, भैंस, भेड़ तथा चराचर क्षेत्र के अन्तर्गत आसमान, दिशा, धूप, पनघट के जितने बिम्ब प्रकट हुए हैं उन सबसे पाठकों के विशाल वर्ग का अविच्छिन्न साहचर्य है। कवि का यह साहचर्य-मूलक बिम्ब-विधान अर्थ को सीधे भावन के समतल पर उपस्थित करता है, जिसमें पाठक भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों की गलियों घूमने लगता है।

'निराला' ने अपने पूर्ववर्ती काव्यों के स्थल-विशेष से प्रभाव-छाया ग्रहण कर भी अर्थ की मौलिक नियोजना की है। यह कार्य उन्होंने अपने अभिनव कल्पनात्मक उन्मेष द्वारा सम्पन्न किया है। इस सन्दर्भ में कृत्तिवासीय रामायण की प्रभाव-छाया में रचित 'राम की शक्ति-पूजा' के दो स्थल द्रष्टव्य हैं—

कृत्तिवासीय रामायण[४६]	राम की शक्ति-पूजा[४७]
(१) रामचन्द्र प्रणमिया वीर हनूमान। देवीदेहे उद्देशेते करिल प्रयाण॥	(१) प्रभु पद-रज सिर धर चले हर्षभर हनूमान
(२) नीलकमलाक्ष मोर बले सर्वजने जुगल नयन मोर फुल्ल नीलोत्पल संकल्प करिब पूर्ण बूझिए सकल एक चक्षु दिब आमि देवीर चरणे।	(२) कहती थीं माता मुझे सदा राजीव-नयन दो नील-कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।

ऊपर उद्धरण-संख्या एक में कृत्तिवास की पंक्तियों में हनुमान का प्रस्थान यांत्रिक है और वर्णन गद्यमय। किन्तु 'निराला' की पंक्तियों में हनुमान के प्रस्थान में हार्दिकता है, जो 'हर्षभर' से व्यंजित है। इस क्रियशीलता में हनुमान की रागात्मकता विचार्य है। वर्णना की दृष्टि से यहाँ 'निराला' ने पूरी पंक्ति में बिम्ब-विधान किया है—'प्रभु-पद-रज सिर धर चले।' लघु-लघु वर्णों से उद्रिक्त यह बिम्ब अपनी पूर्णता में गत्यात्मक है। 'प्रणमिया' के लिए 'पद-रज-सिरधर' चलना, रामचन्द्र' की जगह 'प्रभु' कहना और 'वीर' की जगह 'हर्षभर' कहना 'निराला' की अर्थ-मर्मज्ञता का ज्वलन्त प्रमाण है। इन्दीवर लाने के लिए 'वीर हनुमान' की अपेक्षा 'हर्षित हनुमान' का जाना ही अधिक उपयुक्त और संगत है। 'निराला' की यह अर्थ-यात्रा सतही नहीं होकर भीतरी है। कृत्तिवास में अर्थ का स्थूल मुद्रा-तत्त्व है जबकि 'निराला' में सूक्ष्म जल-तत्त्व!

४६. विश्वम्भर 'मानव' की 'काव्य का देवता निराला' के पृष्ठ २०५, २०६ पर उद्धृत।
४७. निराला: अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ १६१।

उद्धरण-संख्या दो में कृत्तिवास के अनुसार राम का कथन है कि सबलोग मेरी आँखों को नीलकमल कहते हैं। पर 'निराला' की पंक्तियों में राम को स्मरण होता है कि माता मुझे सदैव कमल-नयन कहा करती थी। यहाँ भी 'निराला' का अर्थ-नियोजन जल-तत्त्व से अनुप्राणित है। एक ओर जिन आँखों को सब नीलकमल कहते हैं, उनमें से एक को माता के चरणों में समर्पित करना है, दूसरी ओर जिन आँखों को माँ नीलकमल कहा करती थी, उनमें से एक को माँ शक्ति को अर्पित कर देना है। स्पष्ट है कि माँ को अर्पित किये जाने वाले नेत्र के लिए 'निराला' ने माँ के द्वारा ही नेत्र के इन्दीवर कहे जाने की मौलिक कल्पना की है, जिसमे अर्पण का महत्त्व अपेक्षया कहीं अधिक स्वाभाविक है। अर्थ की यह नियोजना वर्णन-मात्र की न होकर चिन्तन की भी है।

कल्पनात्मक उन्मेष के सहारे अर्थ को मौलिक विच्छित्ति देने का उदाहरण 'जुही की कली' की अन्तिम पंक्तियों में भी प्राप्त होता है—

"मसल दिये गोरे कपोल गोल
चौंक पड़ी युवती
चकित चितवन निज चारो ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी कली खिली
खेल रंग प्यारे संग।" ४८

ऊपर की अन्तिम दो पंक्तियों में 'अमरुकशतक' के निम्नलिखित श्लोक की प्रभाव छाया विद्यमान है—

"शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥" ४९

'अमरुकशतक' के श्लोक मे केलि-क्रिया के प्रारम्भ में बाला सक्रिय है, जो पति के जगे रहने का अवधान कर लज्जा से नम्रमुखी हो जाती है। 'जुही की कली' में भी नायिका नम्रमुखी होती है हँसती है और 'अमरुकशतक' की चिर चुम्बिता की तरह प्यारे संग रंगभर खेलती है। पर यहाँ रति-प्रसंग में पहले नायक पवन सक्रिय हुआ है, बाद में नायिका तदनुरूपा हुई है। इस प्रकार काल्पनिक उन्मेष द्वारा अर्थ को भारतीय संस्कृति की गरिमा से मंडित कर दिया गया है।

---

४८. निराला : परिमल (षष्ठावृत्ति), चतुर्थ खंड, पहली कविता।

४९. अमरुकशतक : व्याख्याकार डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र, पृष्ठ ८३।

'निराला' ने मुख्यतः गीतों की रचना में शब्दों की मितव्ययी प्रवृत्ति के कारण प्रसंग गर्भत्व का सर्जन किया है। प्रसंग-गर्भत्ववश कहीं अर्थ की अनेकता का सर्जन हुआ है और कहीं अर्थ की लयवत्ता का। ध्यान रहे कि यह कवि-प्रतिभा का अन्यतम वैशिष्ट्य है, किसी प्रकार का तथाकथित 'आकांक्षा-दोष' नहीं। 'अर्चना' का—

"प्रिय के हाथ लगाये जागी
ऐसी मैं सो गयी अभागी !"५०

अनेकार्थक प्रसंग-गर्भत्व का सुन्दर उदाहरण है। एक प्रसंग है कि प्रिय के साथ सुरति-निरत होने के बाद रात्रि के अन्तिम प्रहर में नायिका इस गहन निद्रा में सो गयी कि सुबह बहुत दिन उठ आने पर, प्रिय, के हाथों द्वारा जगाये जाने पर ही वह जग सकी। उसे प्रिय के पहले ही उठना चाहिए था। मर्यादा इसी में थी। पर ऐसा नहीं हो सका। अतः वह (गृहिणी) स्वय को 'अभागी' कहती है। दूसरा प्रसग है कि प्रिय के करो का कोमल स्पर्श ही उसे (प्रणयिनी) जगा सका। इससे बढ़कर सौभाग्य भला क्या हो सकता है ? ध्यातव्य है कि प्रिय के कोमल स्पर्श से ही वह सोयी भी थी। अतः 'अभागी' से यहाँ 'सौभाग्यशालिनी' की व्यञ्जना की गयी है। तीसरा सम्भव प्रसग है कि प्रिय आनेवाला था, इसकी सूचना थी। पर आरात्रिक जागरण का निश्चय करने के बाद भी नायिका को अन्तिम प्रहर में नींद आ गयी। और नींद निगोड़ी भी ऐसी आयी कि आगत प्रिय के हाथ लगाकर जगाने पर ही वह जग सकी। कहाँ तो उनके स्वागतार्थ आँखें बिछी रहनी चाहिए थीं और कहाँ वह ऐसी सोयी कि आगत वेला में ही साक्षात्कार न हो सका। मन का सोचा मन में ही रह गया। सच ही वह 'अभागी' है। दिन भी तो काफी चढ़ आया।

प्रसंग गर्भत्ववश अर्थ की लय का उदाहरण 'अनामिका' का 'विनय' शीर्षक गीत है। यहाँ प्रसगार्थ के उद्रिक्त होते ही अर्थ की लय लहर उठती है—

"पथ पर मेरा जीवन भर दो !
बादल हे अनन्त अम्बर के
बरस सलिल गति ऊर्मिल कर दो !"५१

यह गीत नौका रोही का है। ज्येष्ठ के निदाघ के प्रकर्ष के बाद चढ़ते आषाढ़ के लहालोट छाये बादल आकाश में उमड़ पड़े हैं। नौकारोही बादल से प्रार्थना करता है कि मार्ग में आतप के कारण मेरे विरस हो चुके जीवन को तुम अपने सारस्य से सरस कर दो तथा बरस कर नदी के प्रवाह को लहरदार कर दो, तरंगों से भर दो। इस प्रसंगार्थ की उद्भावना के साथ ही पूरी कविता के अर्थ

५०. निराला : अर्चना (द्रष्टव्य)
५१. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृ० ८१

को एक लय मिल जाती है ; और जैसा रिचर्ड्स ने स्वीकार किया है, पंक्तियों, चरणों का स्पन्दन अर्थ का स्पन्दन हो जाता है।

सन्दर्भ सर्जन द्वारा अर्थ की संयोजना का दृष्टान्त 'निराला' की 'सन्ध्या सुन्दरी कविता है—

"सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा
चुप, चुप, चुप
है गूँज रहा सब कहीं।
व्योम-मंडल में जगती-तल में
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी दल में
सौन्दर्य गर्विता सरिता के अति विस्तृत वक्षस्थल में
धीर-वीर गम्भीर शिखर पर हिम गिरि अटल अचल में
उत्ताल तरंगाघात प्रलय घन-गर्जन जलधि-प्रलय में
क्षिति में, जल में, नभ में, अनिल, अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा चुप, चुप, चुप
है गूँज रहा सब कहीं!"५२

इन पंक्तियों की अर्थवत्ता को पूर्व सन्दर्भ से ही उद्रिक्त किया गया है—

"तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु जरा गम्भीर,—नहीं है उनमें हास-विलास!" ५३

सन्ध्या-सुन्दरी का तिमिर रूपी जो आँचल है, वह बड़ी गम्भीरता और शालीनता से शरीर पर रखा गया है। उसके मधुराये अधर भी गम्भीर हैं। अन्धकार का गम्भीरतापूर्ण विस्तार होने लगा है। सन्ध्या-सुन्दरी न तो वाद्य-प्रिया है और न नूपुरों से रुनझुन-रुनझुन उठाने वाली नृत्य-प्रिया ही। इस प्रकार सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा "चुप, चुप, चुप" की जो बात कही गयी है, उसे कविता में पूर्व सन्दर्भ-सर्जन के सहारे ही संकेतित कर दिया गया है। लगता है, जैसे सन्ध्या-सुन्दरी की अगवानी में प्रकृति के पाँचो तत्त्व अनुशासित रूप में चुप हो गये हैं। सबने एक दूसरे को 'चुप, चुप, चुप' मुँह पर उँगली रखते हुए कहा है। सन्ध्या-सुन्दरी हास-विलास पसन्द नहीं करती, नीरवता उसकी संगिनी है—

---

५२. निराला : अपरा (तृतीय संस्करण), पृ० १२-१३
५३. निराला : अपरा (तृतीय संस्करण), पृ० १२

"सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली !"

इसलिए प्रकृति भी गम्भीर होकर ही उसका स्वागत करना चाहती है। यहाँ सन्दर्भ-सर्जन के सहारे अर्थ को स्थायिता, विस्तृति, गहनता और औचिती प्रदान की गयी है।

डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'तुलसी का काव्य-दर्शन' शीर्षक लेख में काव्य के प्रति तुलसी के अभिमत को उपस्थित करते हुए लिखा है कि "काव्य के शब्द सामान्य होते हैं, पर उन शब्दों में परिव्याप्त अर्थ, प्रतिबिम्बित सौन्दर्य और निगूढ़ भाव-सम्पत्ति को कोई ही पूर्णतया पकड़ सकता है। जितना ही गहरे उतरिए उतना ही और अद्भुत चमत्कार दिखाई देता है। काव्य के समग्र वैभव का उद्घाटन सम्भव नहीं। उसमें नित्य नवता है, अगाध रमणीयता है, अथाह रस है, उसके लिए यह सत्य है कि "जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ"[५४] उक्त उद्धरण में काव्य-बोध के लिए व्यञ्जना शक्ति की ओर संकेत है। 'निराला' ने अपने काव्य में अर्थ-प्रसार के लिए व्यञ्जना का विविध स्तरीय व्यापक वितान ताना है।

'राम की शक्ति पूजा' की निम्नलिखित पंक्तियों में व्यञ्जना के माध्यम से अर्थ का नियोजन स्पष्ट है—

"है अमानिशा उगलता गगन घन अन्धकार
खो रहा दिशा का ज्ञान स्तब्ध है पवन चार
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न केवल जलती मशाल।"[५५]

इस चरण का सामान्य अर्थ प्राकृतिक परिवेशगत है। अमावस्या की रात है। आकाश घना अन्धेरा उगलता जा रहा है। 'उगलने' के प्रयोग से अन्धेरा के धुआँधार, अप्रतिहत, अविच्छिन्न प्रकट हो रहे स्वरूप का बोध होता है। अन्धेरा के कारण दिशा का ज्ञान नहीं रह गया, पवन की गति स्तब्ध है। वह शान्त है। पर्वत-सानु के पीछे लगातार विशाल सागर गर्जन कर रहा है। पहाड़ ध्यान-मग्न-सा है और सिर्फ मशाल जल रही है। पर इसका व्यंग्यार्थ आन्तर स्थिति से संबद्ध है। 'अमा' निशा-शामक है। रात निराशा से भरी है। 'गगन' से राम के हृदय का बोध होता है, जो गहरी निराशा व्यक्त कर रहा है। युद्ध का समाधान, जिसके लिए सब यहाँ एकत्र हुए थे (···· 'प्रात के रण का समाधान करने के लिए') मिल नहीं रहा है। यही दिशा-ज्ञान का खोना है। पवन-चार का स्तब्ध हो जाना योजना की सक्रियता के अभाव का सूचक है। वैचारिक

---

५४. हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, वर्ष १३, अंक १-२), पृ० ४५७
५५. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृ० १५०

क्रियाशीलता स्तब्ध है। अतीत (पीछे)-स्मृति में युद्ध की विशाल दानवी सेना का अनवरत गर्जन हो रहा है। भूधर जैसे राम ('उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार') ध्यान-मग्न चिन्तित हैं। निराशा से भरे ऐसे वातावरण और मनःदेश में कहीं भी आन्तर या प्रकृत प्रकाश नहीं है। केवल मशाल का कृत्रिम प्रकाश हो रहा है। इन पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट करते हुए डॉ० निर्मला जैन ने लिखा है कि 'इस अन्धकार में प्रकाश के नाम पर केवल एक मशाल जल रही है और यह मशाल राम हैं।'५६ पर राम को मशाल मानना अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ किसी भी दृष्टि से उपयुक्त न होकर सर्वथा असंगत है। व्यञ्जना के माध्यम अर्थ-नियोजन का एक दूसरा उदाहरण 'राम की शक्ति पूजा' की निम्नलिखित दो पंक्तियाँ हैं—

"उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हो कहीं पार।"५७

अर्थ है कि राम के केश उनके शरीर पर ऐसे छितरे हैं जैसे दुर्गम, बीहड़ पहाड़ पर रात्रि का घना अँधियाला उतर आया हो। इस अँधियाले में कहीं पार से सितारों की तरह नयन-तारक दूर पर चमक रहे हैं। यहाँ व्यञ्जना है कि निराशा से घनीभूत अन्धकार में राम की दूर दृष्टि ही चमक कर पार खोजेगी। वानर-वाहिनी को ऐसा ही विश्वास है।

व्यंजना-शक्ति के सहारे पूरे गीत में अर्थ-नियोजन करने का उदाहरण 'निराला' की 'वरदे वीणा-वादिनी, वरदे!' कविता है। इस पूरे गीत की अर्थवत्ता द्विविध है। एक अर्थ तद्युगीन है, दूसरा युग-युगीन है। तद्युगीन अर्थ की भी दो कोटियाँ हैं—एक सामाजिक और दूसरी साहित्यिक। सामाजिक रूप में कवि प्रार्थना करता है कि हे वर देनेवाली और वीणा बजानेवाली सरस्वती, तुम मुझे वर दो कि भारतवर्ष में (जो परतन्त्रता का भार वहन कर रहा है) वाणी का प्रियकर स्वातन्त्र्य हो। अर्थात् वहाँ प्रिय लगनेवाले स्वातन्त्र्य के शब्द हों। हे देवि! तुम शासन-विषयक नवीन अमृतोपम मंत्रणा-शक्ति दो। ये दोनों ही प्रिय हों। यहाँ 'प्रिय' वाणी-स्वातन्त्र्य और अभिनव अमृतोपम प्राणद मंत्रणा के लिए आया है। हमारे हृदय में अविद्या का, अज्ञान का अन्धकार छाया हुआ है। इसके बन्धन की अनेकानेक परतें बिछी हुई हैं। कवि माँ से इन्हें छिन्न कर देने की प्रार्थना करता है। वह देवी सरस्वती ज्योतिर्मय निर्झर (ज्ञान का तरल आलोक) बहाने की याचना करता है। अपने देश में मानव-मानव में भेद है। कवि भेद-भाव के कलुषान्धकार को हरने तथा प्रकाश विकीर्ण कर सारे संसार को जगमगा देने के लिए देवी से निवेदन करता है। कवि क्रियाशीलता भी नयी गति, तल्लीनता की नयी लय, उत्साह-उल्लास के नये ताल-छन्द,

५६. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', ४ फरवरी १९६८ (निराला अंक), पृ० २५
५७. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृ० १४९

ब्रिटिश भक्ति का विरोधी नवल कण्ठ और वैसे कण्ठों में सान्द्र-मन्द्र मेघ जैसे दृढ़-गम्भीर स्वर के वर माँगता है। भविष्य का नवीन उन्मुक्त आकाश लानेवाले नवयुवक वर्ग को वह सिद्धान्त और प्रयोग—स्वर और पङ्ख दोनों ही रूपों में नवीनता प्रदान करने की याचना करता है।

साहित्यिक अर्थ में कवि कहता है कि हे वीणावादिनी ! तुम यह वर दो कि सम्पूर्ण भारत में (प्रकाश में रत रहने वाले भारत में) रूढ़िबद्ध, जड़ग्रस्त स्वर से परे काव्य को स्वतन्त्र स्वर मिले तथा उसमें नवीन अमृतोपम मन्त्र शक्ति हो। काव्य-क्षेत्र में अज्ञान का अन्धकार छाया हुआ है। इससे उत्पन्न मत्सर कई प्रकार के बाधक हैं—ईर्ष्या, पक्षपात, अभिमान, मिथ्या आत्मोचना आदि आदि। हे माँ ! तुम पारस्परिक भेद की गन्दगी का अन्धकार दूर कर दो। तुम विद्या और गान का ज्योतिर्मय निर्झर प्रवाहित कर काव्य संसार को जगमग कर दो। कविता में नया प्रवाह हो, नयी लय हो, नये ताल-छन्द हों, कवियों के नवीन, सांस्कृतिक, पौरुष से परिपूर्ण राष्ट्रीय और आध्यात्मिक कण्ठ हों और उनकी स्वर-लहरियाँ मेघ की गुरु-गम्भीर ध्वनि की तरह दृढ़ और ठोस हों। हे देवि ! काव्य के नये आकाश की ओर उड़ने वाले नये कवि-समूह को तुम युगानुकूल स्वर-लहरी और नयी शक्ति दो।

युग-युगीन अर्थवत्ता की दृष्टि से 'निराला' देवी से अपनी योजना से सदैव प्रकाश के प्रति लीन रहने वाले भारत में, सुरक्षित रहने वाली प्रिय स्वतन्त्रता के शब्द, गूँजते सजीवक विचार और नहीं मरने वाले अभिनव मन्त्र भर देने का वर माँगते हैं। वे देवी से प्रार्थना करते हैं कि स्वार्थान्ध, मोहान्ध तथा अज्ञानान्ध से भरे हृदय के अनेकानेक बन्धन-स्तर छिन्न हो जाएँ। कथन है कि हे माँ ! तू ज्ञान ज्योति का झरना प्रवाहित कर दे, जो अनवरत झरता ही रहे, सूखे नहीं। कलुष और भेद-भाव का अन्धकार मिटा दे, प्रकाश भर और समग्र विश्व को जगमगा दे। इस व्याप्ति-परक भावना में उन्नयन का सन्देश निहित है। कवि का विश्वास नैसर्गिक विकासवाद में है। इसीलिए वह परिवर्तन और नवीनता का आग्रही है। इस प्रकार इस पूरे गीत में 'मौन में झरते शत-शत श्लोक' की कवि-उक्ति चरितार्थ होती है।

व्यञ्जना के सहारे सूक्ष्म अर्थ-नियोजन का एक अन्य उदाहरण 'अलि घिर आये घन पावस के' दूसरे चरण में द्रष्टव्य है—

"द्रुम समीर-कम्पित थर - थर - थर
झरती धाराएँ झर - झर - झर
जगती के प्राणों में स्मर - शर
बेध गये कसके !"५८

सामान्य अर्थ है कि समीर-प्रवाह से पेड़ काँप रहे, वारि-धाराएँ झहर रही हैं। समस्त संसार के

५८. निराला : अपरा (तृतीय संस्करण), पृष्ठ — ६४

प्राणों में मदन-बाण कसकर वेधे गये हैं, जिनकी कसक बनी हुई है। पर यहाँ लिंग के आधार पर व्यञ्जना से दूसरे अर्थ का भी उद्रेक होता है। पेड़ पुरुष और धारा नारी है। थर थर-थर का कम्पन मिलन का 'वेपथु' नामक सात्विक भाव है। एवं विधि यहाँ जड़ प्रकृति से चेतन मनुष्य तक स्मर-शर से बिंधने का ध्वनित अर्थ-विस्तार है।५९

'निराला'-काव्य में अर्थ-नियोजन की बारहवीं कला भावावेश (थ्रिल) की है। भावावेश कविता का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यह कविता के रक्त का संचार है, उसके जीवन की आशुग्राहिता है। इसके द्वारा हम उसे जान पाते हैं, जो-कुछ कविता में बहुत निकट से जानने लायक होता है। वस्तुतः कविता में किसी शब्द का भावावेश के लिए प्रयोग कविता को मृत्यु से पुनरुज्जीवित करना है। भावावेश व्यक्ति की भावनाओं और विचारों की समष्टि में जीवन का व्यक्तित्वारोपण और संस्पन्दन है।६० 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा' में भावावेश अर्थ को उद्रिक्त करता है। 'शक्ति-पूजा' में भावावेश की ओज, रति और करुण रूप में त्रिधा नियोजना है—

(१) "शत घूर्णावर्त्त, तरंग भंग उठते पहाड़,
जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़
तोड़ता बन्ध-प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,
शत वायु-वेग बल, डुबा अतल में देश भाव,
जल राशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
वज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।"६१

(२) "देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का—नयनों से गोपन—प्रिय सम्भाषण,—
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान पतन,—
काँपते हुए किसलय,—झरते पराग-समुदय,—
गाते खग नव जीवन-परिचय,—तरु मलय वलय,—

---

५९. सबके हृदयँ मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरु शाखा॥
—तुलसीदास : श्रीरामचरित मानस (गुटका, गीता प्रेस, सं० २०२४, अड़तालीसवाँ संस्करण) पृष्ठ—८३

६०. द्रष्टव्य : आर० पी० ब्लैकमूर : लैंग्वेज एज़ गेस्चर, पृ० ३३४-३३५

६१. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ—१५३

ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय,—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,—
जानकी नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।"६२

(३) देखा, वह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय
आसन छोड़ना, असिद्धि, भर गये नयन-द्वय ,—
"धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध !
जानकी ! हाय, उद्धार प्रिया का न हो सका !"६३

उद्धरण संख्या एक में अर्थ का बोध ओज के भावावेग के माध्यम, उद्धरण संख्या दो में अर्थ-बोध श्रृङ्गार के भावावेग द्वारा तथा उद्धरण-संख्या तीन में अर्थ-बोध करुणा के भावावेग द्वारा होता है। भावावेग की सबसे बड़ी विशेषता अर्थ बोध के लिए मानसिक परिवेश निर्माण की है। सामान्य शब्दावली में काव्य-पाठ प्रारम्भ होते ही कभी अर्थ-बोध के पूर्व और कभी अर्थ बोध के साथ जो प्रभाव उत्पन्न होता चलता है उसे भावावेग ही सर्जित करता है। मूर्त अर्थ-बोध की जगह भावक की मनोदशा को कविता में रूपायित कर प्रभाव उत्पन्न करना भावावेग की सबसे बड़ी शक्ति है। इसके माध्यम से जो पूर्ण अर्थ-बोध होता है वह सामान्य अर्थ बोध से अधिक स्थायी और स्मरणशील रूप में सुरक्षित रहता है। इसीलिए ओज और श्रृङ्गार में रोमांच तथा लोम हर्षण और करुणा में अश्रु स्राव तक होने लगता है। सम्पूर्ण 'राम की शक्ति-पूजा' अपने क्लिष्ट समास-विधान और अप्रचलित शब्द-प्रयोग के रहते हुए भी भावावेग की इसी शक्ति के कारण उत्कृष्ट रचना बन जाती है।

एक पश्चिमी आलोचक ने कहीं कविता को 'अर्थ का भी अर्थ'६४ कहा है। 'निराला' की अर्थ-नियोजन-कला को देखते हुए उनकी कविता के विषय में यह निष्कर्ष निकालना रंच-मात्र अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। तथ्य है कि उनकी कविता में जहाँ कहीं भी उनका शब्द-विन्यास उनकी भीम शक्ति का द्योतक हुआ है, वहाँ उनका अर्थ-प्रवेश संस्कार निपुण जौहरी की सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला का परिचायक बन गया है। उनकी कविता तो स्फटिक की तरह है, पर उसकी शुद्ध सरलता की खोज नहीं वर उसके आन्तर वैभिन्य के ऊँचे परिमाण का अन्वेषण किया जाना चाहिए। काव्य के किसी भी अर्थ-जिज्ञासी प्रबुद्ध पाठक के लिए यही सर्वातिशायी प्रशस्य कार्य है। इसके लिए सम्पूर्ण 'निराला'-काव्य भावक आलोचकों को आमन्त्रित करता है। प्रस्तुत निबन्ध तो इस दिशा में एक सहज दृष्टिकोण भर है।

६२. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृ० १५१
६३. निराला : अनामिका (द्वितीय संस्करण), पृ० १६३
६४ आर० पी० ब्लैकमूर लैंगेज एज़ गेस्चर, पृ० १२

शेख अहमदकृत वियोग सागर

शालिग्राम गुप्त

मिश्रबन्धु के अनुसार अहमद का जीवन-काल संवत् १६६० और रचना-काल सं० १६९६ है, किन्तु डा० किशोरीलाल गुप्त ने इनका उपस्थिति काल स० १६१८-१६७८ के मध्य माना है। डा० गुप्त ने अहमद का उपनाम ताहिर बताकर यह समय निर्धारित किया है। कारण ताहिर ने अपने ग्रन्थ 'कोकसार' एवं 'सामुद्रिक' की रचना सं० १६७८ में की थी—

संवत् सोरह सै बरस अठहत्तरि अधिकाय।
बदि असाढ़ तिथि पंचमी कहि कीन्हीं समुझाय॥

ताहिर ने अपनी 'बारहमासी' एव 'कोकसार' में मुगल सम्राट शाहजहाँ के शासन-काल का इस प्रकार उल्लेख किया है—

चारि चक्र सब विधि रचे जैसे समुद गभीर।
छत्र धरै अविचल सदा राज्य साहि जहँगीर॥

नागरी प्रचारिनी सभा, काशी की खोज रिपोर्टों में शेख अहमद की निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख मिलता है—अहमदी बारहमासी, कोकसार अथवा गुणसागर, मुक्ति विलास अथवा हठ प्रदीपिका (विषय-कामशास्त्र), रति विनोद (भाष्य) अथवा रस विनोद और सामुद्रिक। इन रचनाओं के अतिरिक्त उनकी नवप्राप्त रचना है 'वियोग सागर'। प्रस्तुत रचना छोटी होने से यथावत नीचे दी जा रही है।

शेख अहमद सूफी थे और इनकी झुकान विषमता की ओर थी। इसी कारण इनकी अधिकतर रचनाएँ वासनासिक्त हैं। शेख आगरा निवासी साहि मुहदी औलिया के पौत्र एव पीर जलाल मुहदी के शिष्य थे जैसा कि स्वयं कवि ने 'वियोग सागर' के तृतीय दोहे में उल्लेख किया है—

साहि मुहदी औलिया, सब कुलबनि सुलितांन।
तिन सुत पीर जलाल मुहिदी विद्या गुन ग्यांन॥ ३॥

वियोग सागर

शेख अहमद का किया

दोहा

बिधना गति बिध ही लही, और न बिधि को आन।
जो बिधि बिधिना तुम सिरी, ते बिधि बिबिध समान।
नबी नबी अहमद कहै, जो जग बिब बिय होइ।
गगन उदधि धरनी सकल, और सु बिय नहिं कोइ।
साहि मुहदी औलिया, सब कुतबनि सुलितांन।
तिन सुत पीर जलाल मुहिदी, बिद्या गुन ग्यांन।
भोर बयार सुसर मरितु, सीतल बही सुबास।
लालन बिनु लजिय, जरी न होत उजास।
अमी किरन निस चंद की, बिष ससि बिनु मुष बीय।
फूलत बोल कमोदनी, कोक कुहुक दुष दीय।
सदन परिमल सीर ससि, तन लाये बिनु लाल।
बिरहु अगिन उर मैं जरी, बीछ परी कंठ माल।
तन तरफनि मीनहि लई, मन फुनिग गति लीय।
मेघ मघा नैननि हरी, जिय चातिग पीय पीय।
देषनि हरी चकोर की, सषि भृंगी घट साज।
सहज परेवनि ह्वै रह्यौ, पेमु पियारे काज।
रूप जोत मुष दीप मनु, फनिंगा भयौ संयोग।
पैमु की बतियाँ तेल है, जरहि जु लाल वियोग।
बिरहु अगिन के रूप है, अहमद दीप दिपंत।
फिरि फिरि मन फनिगा झपै, फंधा पैमु जरंत।
उदौ भयौ चषि रूप कौ, हितु पतंग दुष दीय।
सुरति पंष भड़ि अड़ि परै, जरै न निकसै जीय।
सुष बिछुरे दुख संग्रहे, बिछुरे रंगरसु ग्यांन।
जब तैं लालन बीछुरे, मन बिछुरत तन प्रान।
बिरहन सुरति कि काम रिपु, बिरह मिलै होइ काल।

नींद भूष सुषसंग मिले, बिछुरे मोहनलाल।
लालन सौं सषि काम दुष, बिरह कटै नहिं जाइ।
पेम संकरै अवधि दिन, बिछुरन दे बिथुराइ।
मीच भली बिछुरन बुरौ, अहि बिधु अनल क रूप।
नैन अधर उच कुच कवल, ससि मुख दहै सरूप:
कास कहौं बिछुरन बिथा, मोहि दुष बरन न कोइ।
अहमद जीय भारी भयौ, गरुवा मरन न कोइ।
मन सुमिरन जिय कल मलन, चित चिता चषि ध्यान।
कल बेकल सुष दुष करन, तन पीरन बिछुरान।
मन चंचल धावतु रहै, बिछुरन रबि के जोरि।
नैन बियौगी म्रिग जिमि, बंधे किरनि ससि डोरि।
सजि अनेग दुष सब जुगति, बिछुरन दिन मोहि देइ।
अहमद सकल बिनोग की, व्यापि बिथा जिय लेइ।
मन रे जा बिछुरन किये, पायक धावन जोग।
सुरति पवन प्रबल भई, उडहि स लाल वियोग।
छ गुन ता दिन च्यंतत रयन, सषि इस सोच बिहाइ।
उर माही लालन बसै, बिछुरन तऊ न जाइ।
जब लालन सषि बीछुरे, बिछुरे कीन परान।
अन दुषी तन तजइगे, ये रहहि न सकौं सयान।
इक सुष के दुष कोट भये, बिरह बली दल कीन्ह।
मिलहि न लाल गुहारि अब, तन गढ़ तोरन लीन्ह।
गौ समीप गुन रूप गौ, चित हुलास मुसकान।
जिय की मूरति लाल बिनु, मन तन भयौ मसान।
सांवर तन मुष पीत जन, भरि भरि नैन ढरंन।
अहमद पिय दुष हरन बिनु, बरन बियोग करंन।
रिस रूरन बिछुरन मिलन, दुष सुष कहिये छोर।
गगन धरनि बधि तीर कहि, बिरहन कहिये थोर।
(बाइस) उडै न पंथ चलै, षष फरकै नही बाम।
मन म्रिग सुरति पवन चढ़ै, बान लगा बै काम।

नहीं चंदा की चाँदनी, बिरहनि जरनि उदोत।
नहीं सूरज की किरन तती, अति उसास तपि होत।
सुमिरन दिन दिनकर दही, रैन दही दहिचंद।
यहि पायो बिछुरन दही, बिरह दुष दंद।
तू पुनि बिरहा जरहिगो, नैन रूप की ज्योति।
जब लालन मोहि पेम को, हुहैं दरस उदोत।
बैरागर कै पैमु की, हीरो बिरहु लह्यौ जु।
सो चित कबहु न ऊतरै, उरमै ठौर गह्यौ जु।
रूप संपूरन पुर रही, क्यौं पलि लागहि नैन।
मूरति मोहन लाल की, सुरत न दै छिन चैन।
लाल नैन बिन लाल भये, फिर कटि परी बियोग।
पल पल कर मीडत रही, नींद गई लै जोग।
नीद जो गलीय सुरति मरू, कर बिछुरन मुष स्याम।
अहमद दुष बिरहा जर यौ, लेत लाल तुव नाम।
पवन पेमु मनु जिय धजा, पिय तन कौ फहराइ।
चौंप कटक चितु मोहनी, परै निकसि मनु जाइ।
लाली नयन बियोग की, अहमद लाल न जान।
बिरह अगिन की लाल झर, कीन्हें स्याम न दान।
पावस सूनी भई, जलहर भरे जु नैन।
पवन उसासनि लहर चढि, तिलक मिटावति गैन।
मंजन अंजन भूलि गय, क्यौं जीवै यह बास।
बिरह जेल गिय मैं परी, पेम गांठ गठमेल।
मन संधान करि पचि रही, सकौं न सषी उषेल।
कलि बेकलि पिय बिन सषी, बिरह सेल उरलाग।
घूम सु घाइल ज्यों परूं, मरूं न यहै अभाग।
बिरह अगिन सषि कूक हुै, लगी गगन दह सार।
बिथुरि तरया अति सघन, दगै हित मनहु लिहार।
बोर छोर जग मापियौ, बिरहै लियौ बिचार।
बिथा बियापी लाल बिनु, दीसत वार न पार।

अमर बिरहु दधि मै बिरहु, बिरहु बिरिष कछ माहिं।
बिरह समूर पसार महि, अमल परो सब छाहि।
दुख बिरहा दह दिस भयौ, कतहु दिसा न आहि।
आन दुसासन लाज बिन, अहमद जिमि द्रिग हाहि।
धरनि मोर चातिग गगन, क्यौं बोलै अधराति।
भादौं की बरिषत मघा, बिरहु बनाई घात।
घन गरजै दामनि चमकि, बरिकै अति निस स्याम।
तन कांपे मनु गहबर, जीह जपै पीय नाम।
काम कटक चढ़ि स्याम निसि, गज घट कूँष दवारि।
तिहि उदौत मह देषिये, घोरा जिमि असवार।
ग्रीष्म मनु पावस जरी, बरिषा नैनन भीज।
हेम हिवारै ज्यौं गरी, तौ तन बिरहन छीज।
दाधिन दुख न जानहीं, ते दाधौ दहि जाहि।
करौं न पेम पियार की, तिन्ह बिधाता छाहि।
बिरह धुध तन मन पवन, दुखु सब धूरि उड़ाइ।
तब जलहर नैनन बरिष, दिन नौ पिउ बधाइ।
धूरि धूम मिलि धूं धरी, अगनि धजा फहरात।
मन बियौग इह जिय परयौ, जोगनि रूप धरात।
बन कोइल मोरन दही, भंवर पुहप रसु लेइ।
फनिगा जरि संतोष ह्वै, अहमद मरन जियेइ।
दहौ उदधि मै गिर पहम, चढौ गगन तिह फेर।
जिन्ह फेर न बिछुरन भयौ, दहौ सु इह दुख मेर।
आवन सगुन जु होत पिय, कग कठोर उठि बोल।
बलिया कतर की फरक, भुजि जिय बंदन बंद षोल।
छतिया धकति हरिक जिय, मिलन आस मति देइ।
अब सोइ लालन कौ बदनु, सांइ बतिया सस लेइ।
मूरति अमियन जोति है, पुतरिन रही समाइ।
देषि सुलालन कौ बदनु, पलनि बुहारौं पाइ।

मैं बलि बलि तिन्ह पलनि कै, जे पल पलनि लगाहि ।
मधुर रूप ये नैन सखी, देषत हूँ न अघाहिं ।
मधुर बैन छबि नैन मय, मधुर जु सबै सरीर ।
अरु लालन के गुन मधुर, करईं बिरहन पीर ।
नैंन नैंन तैं बैन कहि, रसना कहे न जाहिं ।
दुरि मुसकानि हुलास छबि, पल पल में पल हाहिं ।
रोम रोम जिय जिय मिले, लह्यौ जु पेम पियार ।
कहै सु बिछुरन की बिथा, कहहिं बियोग पुकार ।

इति बियोग सागर अहमद का संपूरन ।
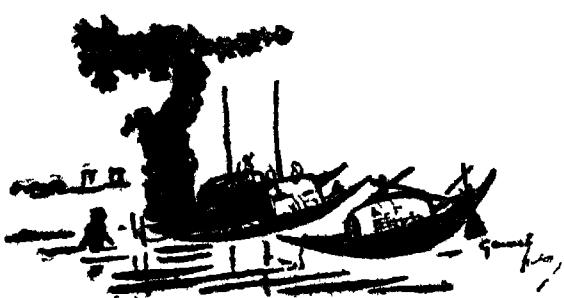
महाकवि समयसुंदर और उनकी 'सत्यासिया दुष्काल वर्णन छत्तासी'

सत्यनारायण स्वामी

राजस्थान में अेक कहावत है—'समयसुंदर रा गीतड़ा, कुंभे राणे रा भींतड़ा' अर्थात् जिस प्रकार महाराणा कुंभा द्वारा बनवाये हुए संपूर्ण मकानों, मंदिरों, स्तंभों और शिलालेखों आदि का पार पाना अत्यंत कठिन है, उसी प्रकार समयसुंदर विरचित समस्त गीतों का पता लगा पाना भी दुष्कर कृत्य है, उनके गीत अपरिमित हैं।

महाकवि समयसुंदर सत्रहवीं शताब्दी के लब्धप्रतिष्ठ जैन कवि हुए हैं। उनका जन्म पोरवाल जातीय पिता रूपसिंह और माता लीलादेवी के यहाँ अनुमानतः संवत् १६१० वि० में सांचोर (सत्यपुर) में हुआ। बाल्यावस्था में ही उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर क्रमशः महोपाध्याय पद प्राप्त किया। मधुरस्वभावी महाकवि अपनी अप्रतिम विद्वत्ता अपने जीवनकाल में ही प्रशंसित हो चुके थे। उन्होंने भारत के अनेक प्रदेशों का भ्रमण करके अपनी नानाविध रचनाओं और सदुपदेशों द्वारा तत्रस्थ जनसमुदाय को कल्याणपथ की ओर अग्रसर किया। सौभाग्यवश महाकवि ने दीर्घायु प्राप्त की थी। सं० १७०३ में उन्होंने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन अहमदाबाद में समाधिपूर्वक नश्वर देह को त्यागकर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया। अपनी इस दीर्घायु में महाकवि ने संस्कृत और राजस्थानी में अनेक कृतियाँ लिखीं। "इनकी योग्यता एवं बहुमुखी प्रतिभा के संबंध में विशेष न कहकर यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य के पश्चात् प्रत्येक विषय में मौलिक सर्जनकार एवं टीकाकार के रूप में विपुल साहित्य का निर्माता अन्य कोई शायद ही हुआ हो।"[1] 'सीताराम-चौपई' नामक बृहत्काय जैन-रामायण कवि की प्रतिनिधि रचना है। उनके अपरिमित फुटकर गीत भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। महाकवि के संबंध में विस्तृत जानकारी एवं उनकी लघुरचनाओं के रसास्वादन के लिए श्री अगरचंद नाहटा और भँवरलाल नाहटा द्वारा संपादित 'समयसुंदर कृति कुसुमांजलि'[2] द्रष्टव्य है। यहाँ प्रस्तुत है उनकी एक लघु कृति 'सत्यासिया दुष्काल वर्णन छत्तीसी' का संक्षिप्त अध्ययन।

१. महोपाध्याय विनयसागर :
'समयसुंदर-कृति-कुसुमांजलि' गत निबन्ध 'महोपाध्याय समय-सुंदर', पृ० १.

२. प्रकाशक :—नाहटा ब्रदर्स, ४, जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता-७.

विक्रमी सं० १६८७ (ईस्वी सन् १६३०) में प्रकृति ने शाहजहाँकालीन भारत के गुजरात तथा दक्षिण प्रदेश पर प्रबल प्रकोप किया। उस वर्ष दोनों प्रदेशों को वर्षा के अभाव में भयंकर दुष्काल का सामना करना पड़ा था। उस समय के सुप्रसिद्ध इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहोरी ने बड़ी मर्मस्पर्शी भाषा में अपने 'बादशाहनामा' नामक ग्रंथ में लिखा है कि उस वर्ष (सं० १६८७ में) दुर्भिक्ष इतना भीषण था कि हजारों लोग भूख के मारे मर गये। जो बचे थे वे भी अपना धर्म अभिमान और प्रतिष्ठा को त्याग येनकेन-प्रकारेण उदर पूर्त्यर्थ किसी भी जघन्य कृत्य को करने में प्रस्तुत रहते थे। लोग घर छोड़-छोड़कर खेतों अथवा अन्य गाँवों की ओर भागते, पर निश्शक्त होने से बीच मार्ग में ही उनका प्राणान्त हो जाता था। गलियों में लाशें बिछ रही थीं, जिनसे भयंकर दुर्गन्ध तो आती ही थी, यातायात भी रुक गया था। कुत्ते के माँस को बकरे का माँस बतला कर बेचा जाता था। बच्चों के प्यार की अपेक्षा उनका माँस लोगों को अधिक प्रिय लगने लगा था। यह प्रकोप विशेषतः अहमदाबाद में हुआ। एतदर्थ अनेक पुण्यात्माओं ने, जिनमें स्वयं सम्राट् शाहजहाँ भी थे—दान रूप में अपरिमित धन-धान्य लुटाया। अन्य प्रान्तों से अन्न मँगवा कर उनकी सहायता के लिये शाहजहाँ ने कई सरकारी भोजनालय खुलवाये और गरीबों को मुफ्त में खिलाने की व्यवस्था की, परन्तु फिर भी सहस्रों आत्माओं को उस क्रूर काल ने अपने लपेटे में ले ही लिया।३

पीटर मण्डी नामक एक अंग्रेज व्यापारी ने अपनी आँखों देखा हाल लिखा है कि सड़कें मुर्दों से पट गयी थीं और उनसे भयकर दुर्गन्ध निकलती थी। खाद्य पदार्थ की इतनी कमी थी कि अंग्रेज व्यापारियों की कोठियों के निवासियों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। वस्तुओं का मूल्य सातगुना बढ़ गया। गरीब लोग निराश होकर अपने घर छोड़कर खेतों में चले गए और नष्ट हो गए। ऐसा भी कहा जाता है कि दुर्भिक्ष के बाद महामारी का प्रकोप हुआ, जिसमें नगर के नगर उजाड़ हो गये।४ वह यह भी लिखता है कि शव मुख्य पथों पर फैले हुए थे, जिनमें से भयंकर दुर्गन्ध निकल रही थी। विशेषतया नगरों में समस्त आयु तथा जाति के नंगे शवो को एड़ियों द्वारा खींचकर फाटकों के बाहर फेंक दिया जाता था ताकि आधा पथ खुला रहे।५

उस भयंकर अकाल के समय हमारे कवि भी गुजरात के सर्वाधिक पीड़ित नगर अहमदाबाद में रह रहे थे। उन्होंने भी इस अकाल का आँखों देखा हाल अपनी 'सत्यासिया दुष्काल वर्णन

---

३. बादशाहनामा : अंग्रेजी अनु० पुनर्मुद्रित, हिस्ट्री अव् शाहजहाँ, कलकत्ता, पृ० २५

४. पी० डी० गुप्ता एवं एम० एल० शर्मा : मध्यकालीन भारत (१०००-१७०७)
(प्र० गयाप्रसाद एन्ड संस, आगरा) पृ० ३०२-३

५. विद्याधर महाजन : मुस्लिम कालीन भारत (प्र० एस० चन्द एण्ड कं०) पृ० ४३६

छत्तीसी' में प्रस्तुत किया है जो रोमांचकारी तो है ही, प्रत्यक्षदर्शी द्वारा वर्णित होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

वर्ण्य-विषय

ऋद्धि-सिद्धि से सर्वथा संपन्न गुजरात में सं० १६८७ में बड़ा भयंकर दुष्काल पड़ा। बरसात का नामोनिशान न था। घनघोर घटायें घिर-घुमड़ कर आतीं और कृषक-समुदाय को चिढ़ाकर गायब हो जाती थीं। खेत सूखे पड़े थे। पानी के अभाव में लोगों में खलबली मच गई।६ खाने की समस्या विकट रूप में आ पहुँची। पशुओं को तो आस-पास के नगरों की सीमाओं पर, जहाँ थोड़ी-बहुत वर्षा हुई, चरने के लिये भेज दिया गया, परन्तु लोगों को अपने ही भोजन की व्यवस्था करना मुश्किल हो गया। खाद्य सामग्री के लिए परस्पर लूट-मार होने लगी। महँगाई का पार नहीं। प्रजावत्सल नरेशों ने अपनी जनता के लिये सस्ते अनाज की व्यवस्था की भी तो लोभी हाकिमों ने उसे अपने पास रखकर महँगे मोल बेचना प्रारम्भ कर दिया था।७ ऐसी स्थिति में लोगों को आधा पाव अन्न तक मिलना भी दुर्लभ हो गया। मान त्याग कर भीख माँगने से भी उनका पेट नहीं भरता था। वृक्षों के पत्ते, कोटे और छालें खाने की भी नौबत आ गई। जूठन खाना-पीना तो सामान्य बात हो गई थी।८

---

६. घटा करी घनघोर, पिण वूठो नहीं पापी।
खलक लोग सहु खलभल्या, जीवइं किम जलबाहिरा ;
'समयसुन्दर' कहइ सत्त्यासीया, ते करतूत सहू ताहरा ॥ ३
('समयसुन्दर-कृति कुसुमांजलि' पृ० ५०१)

७. भला हुंता भूपाल, पिता जिम पृथ्वी पालइ ;
नगर लोक नर-नारी, नेह सु नजरि निहालइ।
हाकिमनइ हुयो लोभ, धान ते पोते धारइ,
महामुंहगा करि मोल, देखि बेचइ दरबारइ।
(स० कु० कु० पृ० ५०२, छन्द ६)

८. अध पा न लहै अन्न, भला नर थया भिखारी ;
मूकी दीधउ मान, पेट पिण भरइ न मारी।
पमाडीयाना पांन, केइ बगरौ नई कांटी,
खावै खेजड छोड, शालितुस खखला बांटी।
अन्नकण चुणइ अहंठि में, पीयइ अहंठि पुसली भरी।
समयसुन्दर कहइ सत्यासीया, अेह अवस्था तइं करी ॥ ८
(स० कु० कु० पृष्ठ ५०३)

प्रेम और ममत्व नाम की कोई चीज ही नहीं रह गयी थी। पति पत्नी को, बेटा बाप को, बहन भाई को, भाई बहन को छोड़-छोड़ कर परदेश को भागने लगे। परिवार का सम्बन्ध अन्न-प्रेम के आगे गौण हो गया।९ अपने आत्मज, आँखों के तारे पुत्र को बेचना पिता के लिए रंचमात्र भी दुष्कर नहीं था। यतियों को अपना पंथ बढ़ाने का सुअवसर मिल गया। लोग पथ-विचलित होने लगे। धन्धा उठने से धर्म और धैर्य की जड़ें भी खिसक उठीं। श्रावकों ने साधुओं को सँभालना तक छोड़ दिया। शिष्यों ने गुरुओं को भूख से बाधित हो पत्र-पुस्तकें, वस्त्र, पात्रादि बेच कर उदर-पूर्ति करने को विवश किया।१०

धर्म ध्यान भी लुप्त होने लग गया। भूख के मारे भगवान का भजन किसे भाता है! श्रावक लोगों ने मंदिरों में दर्शन करने जाना छोड़ दिया। शिष्यों ने शास्त्राध्ययन बंद कर दिया। गुरुवंदन की तो परम्परा ही उठ गई। गच्छों में व्याख्यान-परंपरा मंद पड़ गई लोगों की बुद्धि में फेर आ गया था।११

---

९. मांटी मुकी बइर, मुक्या बइरै पणि मांटी,
बेटे मुक्या बाप, चतुर देता जे चांटी।
भाई मुकी भइण, भइणि पिण मूक्या भाई,
अधिको वाल्हो अन्न, गई सहु कुटुंब सगाई।
घरबार मुकी माणस घणा,
परदेशइ गया पाधरा।
'समय सुन्दर' कहइ सत्यासीया, तेही न राख्या आधरा॥ ९
(स० कृ० कु० पृष्ठ ५०३)

१० दुखी थया दरसणी, भूख आधी न खमावइ,
श्रावक न करी सार, खिण धीरज किम थापइ।
चेले कीधी चाल, पूज्य परिग्रह परहउ छांडउ,
पुस्तक पाना बेचि, जिम तिम अम्हनइं जीवाडउ।
(स० कृ० कु० पृष्ठ ५०५, छंद १३)

११. पडिकमणउ पोसाल, करण को श्रावक नावइ,
देहरा सगळा दीठ, गीत गधर्व न गावइ।
शिष्य भणइ नहीं शास्त्र, मुख भूखइ मचकोडइ,
गुरुवंदण गइ रीति, छती प्रीत माणस छोडइ।
बखाण खाण माठा पड्या, गच्छ चौरासी एही गति,
'समयसुन्दर' कहइ सत्यासीया, कांइ दीधी तइं ए कुमति॥१५
(स० कृ० कु० पृ० ५०५)

अनेक लक्षाधीश साहूकारों की सहायता के उपरांत उस 'मारी' में अनेक मनुष्य बेमौत मरे। उनकी काठियाँ उठाने वाले नहीं मिल रहे थे। घरों में हाहाकार मच रहा था और गलियों तथा सड़कों पर शवों की दुर्गन्ध व्याप्त थी।१२ अनेक सूरि-गच्छपतियों को भी हत्यारे काल ने अपने गाल में लेलिया।

स्वयं कवि पर भी इस प्रबल अकाल के कई तमाचे पड़े। पौष्टिक भोजन के अभाव में उसकी काया कृश हो गई, उपवासों से रही-सही शक्ति भी चली गई। धर्मध्यान और गुरु-गुणगान से भी उसे वंचित होना पड़ा।१३ ऐसे भीषण अकाल के समय यद्यपि कवि की श्रावक लोगों ने कम ही सार सँभाल ली किन्तु शांतिदास जैसे शिष्यों ने उसकी अच्छी सेवा की। अन्य अनेक सेवाव्रतियों ने भी यथासामर्थ्य साधुओं और भिखारियों आदि के भोजनार्थ व्यवस्था की जिनमें प्रमुख थे—सागर, करमसी, रतन' बछराज, ऊदो, जीवा, सुखिया, वीरजी, हाथीशाह, शाह लटका, तिलोकसी आदि। अहमदाबाद में प्रतापसी शाह की प्रोल मे रोटी और बाकला बाँटने की व्यवस्था की गई थी।

कवि लिखता है कि भगवान महावीर के काल से लेकर तब तक तीन द्वादशवर्षीय दुष्काल पड़े थे, किन्तु जैसा संहार इस वर्ष के काल में हुआ, पूर्व के बारह-बारह वर्ष के लंबे अकालों में भी वैसा नहीं हुआ।१४

---

१२. मूआ घणा मनुष्य, रांक गलीए रडवडिया,
सोजो वल्यउ सरीर, पछइ पाज मांहि पडिया।
कालइ ध्रवण बलाई, कुण उपाडइ किहां काठी,
तांणी नाख्या तेह, माडि थइ सगली माठी।
दुरगंधि दशोदिशि ऊछली, मडा पड्या दीसइ मूआ,
'समयसुन्दर' कहइ सत्यासीया, किण घरि न पड्या कूकुआ॥१७॥
(स० कृ० कु० पृष्ठ ५०६)

१३ पडि आव्यउ भो पासि, तू भावतउ मइ दीठउ,
दुरबल कीधी देह, म करि कह्यउ भोजन मीठउ।
दूध दही घृत घोल, निपट जीमिवा न दीवा,
शरीर गमाडि शक्ति, कैई लघण पणि कीवा।
धर्मध्यान अधिका धरया, गुरु दत्त गुणणउ पिण गुण्यउ,
'समयसुन्दर' कहइ सत्यासीया, तु नें हाक मारिनइ मइ हण्यउ॥१९॥
(स० कृ० कु० पृष्ठ ५०७)

१४ महावीर थी मांडी, पड्या त्रिण वेला पापी,
बारवरषी दुकाल, लोक लीधा संतापी।
पणि ओकणइ ओक तइं ते कीयउ, स्युं बार बरसी बापड़ा,
'समयसुन्दर' कहइ सत्यासीया, बारै लोके न हुया लाकड़ा॥२६॥
(स० कृ० कु० पृष्ठ ५०९)

और इस सत्यानाशी 'सत्यासीये' का शमन किया 'अठ्यासीया'—(वि० सं० १६८८ के वर्ष) ने। वर्ष के आरम्भ में ही खूब जोरों की वर्षा हुई। धरती धान से हरी-भरी हो उठी। लोगों में धैर्य का संचार हुआ। खाद्य पदार्थ सस्ते हो गये। लोगों का उल्लास लहरें लेने लगा। 'मरी' और 'मांदगी' (महामारी) मुँह मोड़ चले। हाँ, साधुओं की दशा अभी तक चिंतनीय थी।१५ धीरे-धीरे उनकी भी सेवा और आदर की ओर ध्यान दिया जाने लगा। इस प्रकार पुन: गुजरात में आनन्द अठखेलियाँ करने लगा।

'विशेष शतक' ग्रन्थ की प्रशस्ति में अकाल-वर्णन

कवि ने अपने एक संस्कृत ग्रंथ 'विशेष शतक' की प्रशस्ति में भी इस दुष्काल का वर्णन किया है। संबधित अंश १६ का सारांश इस प्रकार है—

स० १६८७ में गुजरात में पड़े अकाल से पाटण नगर में मृतकों की अस्थियों के ढेर लग गये थे। भिक्षुओं और साधुओं की अवहेलना की जाती थी। पाँच रुपये मन के भाव का महँगा धान होने से लोग अपने सम्बन्धियों को छोड़कर परदेशों को भाग रहे थे। जैसे लोकसहारी अदृष्टपूर्व दुष्काल में समयसुंदर उपाध्याय ने किसी प्रकार ठहर कर यह प्रति लिखी।

---

१५ मरगी नइ मदवाडि, गया गुजरातथी नीसरि,
गयउ सोग सताप, घणो हरख हुयउ घरिघरि।
गोरी गावइ गीत, वली विवाह मंडाणा;
लाडू खाजा लोक, खायइ थाली भर भांणा।
शालि दालि घृत घोलसु, भला पेट काठा भरया,
'समयसुंदर' कहइ अठ्यासीया, साध तउ अजे न सांभरया॥३३॥
(स० कृ० कु० पृष्ठ ५११)

१६. मुनिवसुषोडशवर्षे (१६८७) गूर्जरदेशे च महति दुकाले।
मृतकैरस्थिग्रामे जाते श्रीपत्तने नगरे॥१॥
भिक्षुभयात् कपाटे जटिते व्यवहारिभिर्भृश बहुभिः।
पुरुषैर्माने मुक्ते सीदति सति साधुवर्गेऽपि॥२॥
जाते च पंचरजतैर्धान्यमणे सकलवस्तुनि महर्घ्ये।
परदेशगते लोके मुक्त्वा पितृमातृबन्धुजनान्॥३॥
हाहाकारे जाते मारिकृतानेकलोकसंहारे।
केनाप्यदृष्टपूर्वे निश्चि कोलिकलुंठिते नगरे॥४॥
तस्मिन् समयेऽस्माभिः केनापि च हेतुना च तिष्ठद्भिः।
श्रीसमयसुन्दरोपाध्यायैर्लिखिता च प्रतिरेषा॥५॥
(स० कृ० कु० पृष्ठ ५१४ १५).

काव्यत्व

बड़ी सुन्दर और सरस शैली तथा भाषा में लिखे इन मुक्तकों में कवि ने खुलकर अपनी भावुकता का परिचय दिया है। जहाँ एक ओर वह तत्कालीन प्रजा की दयनीय स्थिति का चित्रण करता है वहाँ दूसरी ओर वह उस दुष्काल को जमकर गालियाँ भी निकालता है। अकाल के प्रति की गई इन कटूक्तियों में कवि की कलात्मकता तो झलकती ही है, मानवता के प्रति उसका अगाध स्नेह भी इनमें परिलक्षित होता है। और सच तो यह है कि इस स्नेह भावना के कारण ही उसकी इन उक्तियों का उद्भव हुआ है—

१. समयसुन्दर कहइ सत्यासीउ, पड्यो अणांण्यउ पापीयउ ॥ १

२. दोहिलउ दण्ड माथइ करी, भीख मंगावि भीलवा।
 समयसुन्दर कहइ सत्यासीया, थारो काळो मुँह पग नीलजा।' ५

३. कूकीया घणुं श्रावक किता, सद्दि दीक्षा लाभ देखाडीया।
 समयसुन्दर कहइ सत्यासीया, तइ कुटुंब बिछोडा पाडीया ॥ १०

४. सिरदार घणेरा संहरत्रा, गीतारथ गिणती नहीं।
 समयसुन्दर कहइ सत्यासीया, तु हतियारउ सालो सही ॥ १८

५ हरसणी बहूनइ अन्न द्यइ, धिरादरे थोभी लीया।
 समयसुन्दर कहइ सत्यासीया, तिहां तुं नइ धक्का दीया ॥ २५

६. समयसुन्दर कहइ सत्यासीया, तुं परहो जा हिव पापीया ॥ २८

रसों में करुण और अलंकारों में अनुप्रास की प्रधानता है। छंद सवैया है भाषा गुजराती मिश्रित सरल और मुहावरेदार राजस्थानी है।
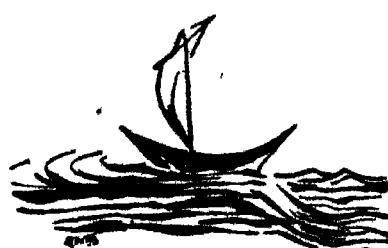
राहुलजी और सोवियत-भक्ति

कमला सांकृत्यायन

भारत और सोवियत संघ की मित्रता आज एक ऐसी वास्तविकता है कि लोग यह सोचने की फिक्र भी नहीं करते कि इसका भी अपना एक इतिहास रहा है। १९२३ में इलाहाबाद से निकलनेवाली पत्रिका विद्यार्थी में छपा था : "हमारे उत्तर-पश्चिम में एक ऐसी जाति पैदा हुई है जो नन्हें-नन्हें बच्चों को गरम-गरम तेल में भुन कर खा जाती है।" इशारा रूस और बोल्शेविकों से था। इसी जमाने में महापण्डित राहुलजी ने बाईसवीं सदी' लिख कर साम्राज्यवाद और प्रतिक्रियावाद के इस अन्ध प्रचार पर हमला किया था। यह सिलसिला आगे भी जारी रहा। बाईसवीं सदी' के बाद उन्होंने रूस-भ्रमण के अपने अनुभव बताये, फिर यहाँ के लोगों को क्या कहना चाहिये, रूसी और बोल्शेविक लोग वास्तव में क्या हैं, उनके बारे में पुस्तकें लिखीं। साम्यवाद का परिचय कराने के लिये भारतीय जनता के सामने उन्होंने 'तुम्हारी क्षय' और 'भागो नहीं (दुनिया) को बदलो' जैसी कृतियां पेश कीं।

अपने महत्वाकांक्षी केरियर के दिनों में राहुलजी ने कई एक धर्म –क्रमश. वैष्णव, आर्य-समाज और बौद्धधर्म—के साथ अपना गहरा सम्बन्ध स्थापित किया, लेकिन अन्ततोगत्वा मार्क्स-वाद के साथ उनकी गहरी श्रद्धा हो गयी। मार्क्सवाद तक उनकी पहुँच भारत के अन्य साम्य-वादी नेताओं की तरह नहीं हुई, बल्कि वे मार्क्सवाद के गम्भीर विद्वान् और अध्येता भी रहे। वे सक्रिय कार्यकर्ता अथवा साम्यवाद के कोरे प्रचारक नहीं थे बल्कि उसमें विद्यमान कुछ असगत बातों की ओर भी उनका इशारा रहता था। मार्क्सवाद से उनका सम्बन्ध केवल लेखनी तक ही सीमित रहा। उन्होंने स्वयं कहा है—"मैं मजामशाही मार्क्सवादी प्रचारक नहीं था कि हरेक को कन्वर्ट (मतपरिवर्तन) करने के नशे में २४ घण्टे चूर रहूँ। अपने जीवन में मुझे ऐसा करने की आवश्यकता इसलिये भी नहीं थी कि मौके बेमौके बोलने से जो काम नहीं हो सकता, उतना मेरी किताबें कर रही थीं।" [1]

१९१७ ई० में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हुई, जिसने जार के साम्राज्यवादी शोषण का अन्त कर रूस में मजदूरों-किसानों की सत्ता स्थापित कर दी। महापण्डित राहुलजी—उस समय के

---

१ मेरी जीवन यात्रा (भाग ३) पृष्ठ ३८८, प्रकाशक – राजकमल प्रकाशन, फैजबाजार, दिल्ली-६

रामोदार साधु—तब बुन्देलखण्ड के महेशपुरा कस्बे में आर्यसमाज के प्रचारक के रूप में कार्य कर रहे थे। वहीं पर उन्होंने श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी के "प्रताप" में उसका रोमांचकारी विवरण पढ़ा। हमारा देश तब गुलाम देश था। रूसी क्रान्ति की लम्बी खबरों से भारतीय राष्ट्रवादियों पर बुरा असर पड़ेगा, इसलिये अंग्रेज सरकार ऐसी खबरों को भला खुलेआम क्यों छापने देती? तो भी कहीं-कहीं छिटपुट समाचार निकल रहे थे। महापण्डितजी ने मेरी जीवन यात्रा, प्रथम खण्ड में इसका उल्लेख करते हुये लिखा—"रूस की फरवरी की क्रान्ति की बहुत क्षीण खबरें भारत में पहुँच रही थीं। वस्तुतः हमें खबर भी तो उतनी ही मिल पाती थी। जिनके आने की हमारे अंग्रेज-प्रभु इजाज़त देते थे। २ इस क्रान्ति ने केवल रूसी जनता को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण पूर्व की पददलित जातियों को मुक्ति का संदेश दिया। राहुलजी पुनः लिखते हैं—"रूसी क्रान्ति की खबरों ने मेरे ऊपर एक नया प्रभाव जमाना शुरू किया। इन खबरो से मालूम होता था कि वहां की गरीबों, मजदूरों किसानों की भी एक पार्टी है जो गरीबों के हक के लिए लड़ रही है वह भोग और श्रम के समान विभाजन का प्रचार करती है। मुझे ये ख्याल अखबारों के बहुत से अंकों को पढ़ते हुए केवल बीजरूप में ही मालूम हुए। मैंने उस वक्त तक (१९१७) हिन्दी या उर्दू में साम्यवाद पर कोई पुस्तक पढ़ी न थी, शायद वह मौजूद भी नहीं थी। किसी जानकार से इस विषय में वार्तालाप भी नहीं किया था, तो भी भोग-श्रम साम्य का सिद्धान्त बहुत जल्दी से मेरे स्वभाव का एक अंग बन गया। मालूम होता है—कोई आदमी अनजान किसी ऐसी चीज की खोज में हो जिसकी आकृति और नाम को भी वह भूल गया हो और वह चीज एक दिन अकस्मात् उसे मिल जावे। मैंने उस बीज को अपने आप सोचकर विकसित किया। आस-पास के लोगों को मैं उसके गुणों को समझाता और साथ ही आर्यसामाजिक सिद्धान्तों तथा साम्यवाद को समन्वय करने की कोशिश करता। ३

पण्डितजी की अवस्था उन दिनों २५ वर्ष की थी। अभी तक वे आर्यसमाजी प्रचारक भर ही थे। हां, तब उनके आर्यसमाज के पत्र 'भास्कर' और 'भारती' में कुछ यात्रा सम्बन्धी और आर्यसमाज विषयक लेख छपे थे। १९१८ में वे काल्पी में पढ़ने-पढ़ाने के काम में लगे हुए थे। १९१८ के प्रथम पाद तक रूसी मजदूर-क्रान्ति की काफी खबरें छन-छन कर उनके कानों तक पहुंच रही थीं। काल्पी में उन्हें उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी के अखबार मिल जाते थे और उनमें छपनेवाली तीन पंक्तियों की रूस सम्बन्धी खबर भी उनको चिन्तन का काफी मसाला दे देती थी।

---

२. मेरी जीवन यात्रा • भाग १ •, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २६९।

३. वही „ „ पृष्ठ २७१, प्रकाशक —(आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता। (संस्करण समाप्त)

वे उन उड़ती खबरों और जब तब समाचार से सुन लिये साम्यवाद के विकृत आकार को अपनी समझ से सुलझा कर एक साम्यवादी जगत की कल्पना करने लगे। १९१८ के आदिम महीनों में ही उन्होंने इस विषय पर एक पुस्तक लिखनी चाही थी और उसका खाका भी बना लिया था।

१९१८-१९ में राहुलजी की दिनचर्या में सम्मिलित थे—दैनिक अखबारों को पढ़ना, देश-विदेश की राजनीतिक खबरों को गौर से देखना, भारत में राजनीतिक क्रान्ति की चाह और रूसी क्रान्ति और साम्यवाद—ये उनके प्रिय विषय थे। ४ उन्होंने रूसी क्रान्ति की उड़ती खबरों के बल पर क्रान्तिप्रसूत संसार का एक नकशा अपने मन पर अंकित किया था। कभी-कभी महन्तों, जमीन्दारों की सम्पत्ति का क्या हस्र होगा, इसके बारे में तिरुमिशी के मठ के महन्तजी के सामने चित्रित कर उनको डरा देने में भी उन्हें मजा आता था। अब तक राहुलजी का रूस और रूस की क्रान्ति के बारे में ज्ञान अखबारों के समाचार तक ही सीमित था, किन्तु १९२२ में सर्व प्रथम उनको त्रात्स्की लिखित "बोल्शेविकी और ससार-शांति" पुस्तक अंग्रेजी में पढ़ने को मिली किसी बोल्शेविक ग्रन्थकर्ता की यह पहली पुस्तक थी।

पंडितजी स्वयं स्वीकार करते हैं - "कात्पी में रहते १९१८ में मैंने साम्यवादी समाज को चित्रित करते हुए एक पुस्तक लिखनी चाही थी, उसका खाका नोटबुक में था . . वह नोटबुक गुम हो गयी। अब फिर वैसी पुस्तक लिखने की इच्छा हुई, और सस्कृत में . मैंने अब तक साम्यवाद के विषय में प्रताप आदि हिन्दी पत्रों में छपे कुछ लेख विशेषकर रूसी क्रान्ति के सम्बन्ध में जब तब निकली कुछ पक्तियों की खबरों के सिवाय एक तरह से नहीं-सा पढ़ा था। "बोल्शेविकी और संसार शान्ति" से क्या ज्ञान प्राप्त किया था, नहीं कह सकता। किसी उटोपिया (Utopia) का तो नाम भी नहीं सुना था। किन्तु १९१७ के आखिर में रूसी-क्रान्ति की खबर मैंने जो 'प्रताप' में पढ़ी थी और आगे जो बातें मालूम होती गयीं, उनके आधार पर मैंने जिस समाज की कल्पना की थी, उसी को इस पुस्तक में चित्रित करने जा रहा था। ख्याल आया, आज के समाज से उस समाज तक पहुँचने के रास्ते के साथ उसका चित्रण किया जावे और इसी के अनुसार एक युवा तपस्वी विश्वबन्धु को हिमालय की ओर भेजा। उसकी आकृति और निस्पृहता मैंने स्वामी रामतीर्थ से ली थी। 'विश्वबन्धु प्रदीप' को छन्दोबद्ध काव्य के रूप में लिखना शुरू किया, उसके पांच छ सर्ग समाप्त भी किये।... दूसरी जेलयात्रा (१९२६) : में संस्कृत की अव्यवहारिकता का ज्ञान हुआ .....इसलिये मैंने उसे 'बाइसवीं सदी' के रूप में लिखा।

---

४. जीवन यात्रा (१), पृष्ठ ३६६, ३६७।

और वस्तुतः यही पुस्तक राहुलजी के लेखकीय जीवन की प्रथम कृति थी जिसे हिन्दी के पाठकों ने बहुत पसंद किया। इसका प्रमाण यही है कि इस पुस्तक के १९४८ ई० तक पांच संस्करण निकल चुके थे। इधर कितने निकले, ज्ञात नहीं है।

१९२१ के जमाने में बौद्ध धर्म के साथ ही पण्डित जी साहित्य में भी प्रवेश कर चुके थे। यों तो उन्होंने हजारीबाग जेल में ही लिखना शुरू किया जिनमें कई पुस्तकें बाद में निकलीं, किन्तु सीलोन जाने के बाद पत्र-पत्रिकाओं में उनके नाम की धूम थी। १९२४ में श्री बेनीपुरी जी ने 'युवक' निकाला। राहुल जी ने उसके शुरु शुरु के अंकों को तिब्बत में रहते पढ़ा और उसकी बड़ी प्रशंसा करते हुए अपने लेख भी भेजते रहे। १९३० के बाद तो राहुल बाबा ने 'युवक' आश्रम को अपना ही अड्डा बना लिया।

बेनीपुरी जी लिखते हैं५—"इसी आश्रम में पहली बार १९३० में कार्ल मार्क्स के कैपिटल के दो भाग उनके हाथ लगे। वे उस पर तत्परता से टूट पड़े और चार ही दिन के अन्दर सारी कैपिटल को चाट कर तृप्ति की साँस ली।"

१९३२ का जमाना। राहुलजी अब बौद्ध भिक्षु बन चुके थे और लंका की महाबोधि सोसायटी की ओर से बौद्ध धर्म प्रचारक के रूप में यूरोप यात्रा पर चले गये। अपने प्रचार का काम, लेखन और अध्ययन के अतिरिक्त उनका मुख्य कार्य था लन्दन से निकलने वाले दैनिक अखबारों का पारायण करना। दैनिकों में उन्हें "डेली वर्कर" बहुत पसन्द था। इसी समय पण्डित जी ने अपने विचार इन शब्दों में प्रकट किये—"मैं कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर नहीं था। लेकिन लेनिन, स्तालिन की पार्टी को छोड़ मैं किसी के विचारों और कार्यप्रणाली को पसन्द नहीं करता था। मेरे लिए कहाँ स्थान है, शायद इसे मैं 'बाईसवीं सदी' के लिखने और उससे भी छ' साल पहले रूसी-क्रान्ति के प्रति अगाध प्रेम और सहानुभूति ने ही निश्चय कर दिया था। 'डेली वर्कर' से मैं जितना इंगलैण्ड की साधारण जनता के बारे में जान सकता था, उतना किसी पत्र से सम्भव नहीं था। वह रूस की भी ताजी ताजी खबरें देता था, और मैं उसका सबसे ज्यादा प्यासा था।"६ डेली वर्कर के अतिरिक्त सोवियत से छपने वाले कितने ही सचित्र मासिक साप्ताहिक पत्रों और पुस्तक-पुस्तिकाओं को जमा करके पढ़ा करते थे।

मार्क्सवाद के जनक कार्ल मार्क्स के प्रति राहुलजी की असीम श्रद्धा थी। १९३०-३१ ई० में ही उन्होंने मार्क्स के कई ग्रंथों को पढ़ा था, यद्यपि अभी मार्क्स के भौतिकवाद को पूरी तौर से

५. संगम, १९४८, प्रकाशन का स्थान ज्ञात नहीं।
६. मेरी जीवन यात्रा (२), पृ० १५६।

वे अपना नहीं सके थे। उनके लिए बुद्ध और मार्क्स यही दो व्यक्ति ही आज की दुनिया का बेड़ा पार कर सकते थे। उन्होंने पढ़ा था, मार्क्स का देहावसान लन्दन में हुआ था और वे वहीं हाइगेट कब्रस्तान में दफनाये गये थे। एक दिन राहुलजी ढूँढ़ते खोजते उस कब्रस्तान पर पहुँच गये। उन्होंने वहाँ के चौकीदार से मार्क्स की समाधि के बारे में पूछा, तो उसने अपने को अनभिज्ञ बतलाया। राहुलजी को भी आश्चर्य हुआ कि जिस वर्ग की गुलामी को हटाने के लिए मार्क्स ने इतना काम किया, उसीका एक आदमी उस कब्रस्तान का चौकीदार होते हुए भी मार्क्स की समाधि को नहीं जानता। हजारों कब्रों के एक-एक नाम को पढ़ते हुए पता लगाना कठिन था। खैर, एक अन्य व्यक्ति की सहायता से वह कब्र मिल गयी। 'कब्र उस समय (१९३२) साधारण थी जिस पर घास उगी हुई थी। यहीं दुनिया के श्रमजीवियों का त्राता अपने जीवन के अन्त तक परिश्रम और दरिद्रता सहने के बाद अपनी स्त्री और अपने नाती के साथ नीरव सो रहा था। मैंने बड़े भक्तिभाव से फूलों को समाधि पर चढ़ाया। सिरहाने के पत्थर पर मार्क्स का नाम भी खुदा था और किसी ने छोटा-सा लाल झण्डा रख दिया था'।७

यह श्रद्धा आगे भी बढ़ती गयी और कार्ल मार्क्स की एक विस्तृत स्वतन्त्र जीवनी (१९५६) में लिखकर मजदूर वर्ग के उत्थान के जनक को श्रद्धांजलि के रूप में अर्पित की।

यूरोप में रहते ही राहुलजी को सोवियत जाने की तीव्र लालसा हुई। यद्यपि अभी जाने में कितना समय लगेगा कोई निश्चित नहीं था, फिर भी उन्होंने यूरोप में ही रूसी भाषा पढ़ना आरम्भ किया। भाषा पढ़ाने वाली थी पोलैण्ड की एक कोनटिस जो रूसो बोलशेविकों को फूटी आँखों से भी नहीं देख सकती थी। लेकिन उसको क्या पता था कि सामने पीले कपड़ो में बोल-शेविकों का एक जबर्दस्त हिमायती बैठा हुआ है। पेरिस में रहते ही पण्डित जी ने अपने पासपोर्ट में सोवियत का नाम भी डलवा लिया था। इसका मुख्य कारण यह था कि रूस में बौद्ध इतिहास और संस्कृत सम्बन्धी बहुत-सी वस्तुओं का उत्तम संग्रह था। आचार्य श्चेवत्सिकी, आचार्य ओल्डेनबुर्ग, ओबर मिलर जैसे बौद्ध साहित्य और दर्शन के चोटी के पण्डित भी वहाँ रहते थे, इसलिए उनकी बड़ी इच्छा थी कि वहाँ जायें और यूरोप से जाने में सुविधा भी रहती। अब उन्हें रूसी विजा (Visa) की आवश्यकता थी। सोवियत दूतावास में जानेपर उनको मालूम हुआ कि इसमें एक मास लग जायगा, तिस पर भी मिलना सन्दिग्ध था। लेकिन वे सोवियत भूमिको देखने के लिए बेकरार थे।८

---

७. मेरी यूरोप यात्रा, द्वितीय संस्करण, पृ० ९३

८. वही „ पृ० १५८

वस्तुतः भारतीय मानस पर रूस की अक्तूबर क्रान्ति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। अतः भारतीय साहित्य और कला के महान् व्यक्तित्वों पर भी उसका प्रभाव पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक था उस समय के दिग्गज भारतीय साहित्यकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रेमचन्द के तत्कालीन साहित्य पर बोल्शेविक क्रान्ति का प्रभाव स्पष्ट पड़ने लगा। पंडित जवाहरलाल नेहरू भी अपनी पहली सोवियत यात्रा से बहुत प्रभावित हुए थे और उन्होंने 'सोवियत रूस' शीर्षक अपनी पुस्तक में अक्तूबर क्रान्ति के प्रति अपने विचार व्यक्त किये थे। महापण्डित राहुलजी के जीवन पर भी इस क्रान्ति का जो प्रभाव पड़ा, वह कम गहरा नहीं था। उन्होंने महसूस किया कि रूस में वही हुआ जो वे चाहते थे। इसी लिए बाईसवीं सदी के बाद उन्होंने इस विषय की दूसरी पुस्तक 'साम्यवाद ही क्यों' लिखी जो उस समय काफी लोकप्रिय हुई थी। इस पुस्तक में उस मुक्ति आन्दोलन का स्पष्ट चित्रण किया गया है।

सोवियत भूमि देखने की महापंडितजी की इच्छा आंशिक तौर से १९३५ में पूरी हुई। वे पूर्वी एशिया की यात्रा पर गये और मलाया, सिंगापुर, जापान, कोरिया, मंचूरिया, मुकदन होते हुए सोवियत भूमि पहुँचे। २९ अगस्त से २१ सितम्बर तक, कुल १४ दिन, उन्हें सोवियत भूमि की वायु में प्रथम बार सांस लेने का मौका मिला। वे लिखते हैं :—"मैं अपना धन्य भाग्य समझता था। १९१७ की लालक्रान्ति ने दुनिया के करोड़ों आदमियों में विचारों की क्रान्ति पैदा कर दी और मेरे विचारों पर तो उसने स्थायी मुहर लगा दी। यद्यपि मुझे अभी १० साल और आर्यसमाज के थोड़े बहुत अन्दर में रहना था, फिर बौद्ध-दर्शन का पल्ला पकड़ना था, परन्तु मुझे किस दिशा में जाना है, इसका निर्णय १९१७ के अन्तिम महीनों में हो गया था जबकि खबरों से मुझे इतना ही मालूम हुआ कि रूस में राजा और धनियों का शासन खत्म कर दिया गया, अब वहाँ गरीबों का राज है। मैंने इतनी ही पूँजी से अगले साल (१९१८) बाइसवीं सदी लिखने के लिए खाका बनाया यद्यपि उसे पुस्तक का रूप देने में ५-६ साल की देर थी। गावों शहरों, स्त्री-पुरुषों का जो स्वरूप मैंने बाईसवीं सदी में चित्रित किया था, वह कल्पना जगत की चीजें थीं, लेकिन यहाँ ठोस दुनिया में उन्हें साकार रूप दिया जा रहा था, फिर सोवियत भूमि को मैं अपनी श्रद्धास्पद भूमि समझूँ तो आश्चर्य क्या"[९]

'सोवियत भूमि की प्रथम झाँकी' शीर्षक से उन्होंने अपनी इस प्रथम सोवियत यात्रा विवरण को जीवन-यात्रा के दूसरे भाग के ३४९ पृष्ठ से ३६२ पृष्ठ तक दिया है। उस समय उस देश में पंडितजी जितना कुछ देख पाये, सब को बड़ी दिलचस्पी और बारीकी से देखा। इस यात्रा में वे सोवियत के इरकुत्स्क से मास्को आये। वहाँ उन्होंने डॉ० श्चेर्वात्स्की तथा डाक्टर ओल्डेनबुर्ग से

९ 'मेरी जीवनयात्रा', भाग २, पृष्ठ ३४९-५०।

मिलने के लिए कोशिश की, किन्तु तब तक डाक्टर ओल्डेनबुर्ग का देहान्त हो चुका था और डाक्टर श्चेर्बात्स्की लेनिनग्राड में रहते थे।

महापंडित राहुलजी अपने जीवन में विश्वविख्यात संस्कृतज्ञ और बौद्ध-साहित्य के अद्वितीय विद्वान डॉ० श्चेर्बात्स्की से बहुत प्रभावित थे। वे रूस के प्राच्य प्रतिष्ठान के प्रधान थे। श्चेर्बात्सकी के बुद्धिष्ट लाजिक (बौद्ध न्याय) के तीनों खण्डों की प्रशंसा करते वे नहीं थकते थे। तिब्बत की तीसरी यात्रा (१९३६) में जब उन्हें आचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की मूल प्रति मिली जो कि भारत में लुप्त समझी जाती थी, तो दुनिया में सबसे अधिक प्रसन्नता डाक्टर श्चेर्बात्स्की को हुई थी। इस ग्रन्थ को देखने के लिए वे भारत आना चाहते थे, और उन्होंने श्री काशीप्रसाद जायसवाल जी को पत्र लिखा :—"राहुलजी ने धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का पता लगाकर उन्हें प्राप्त करने का जो आश्चर्यजनक कार्य किया है, उसका समाचार पढ़कर हम लोगों को अत्यन्त हर्ष हुआ। धर्मकीर्ति भारतवर्ष के कांट (Kant) थे। अब तक हमें उनके ग्रन्थों के अनुवाद चीनी तथा तिब्बती में पढ़ने पड़ते थे, पर अब तो मूल ग्रन्थ ही मिल गया। मैं और मेरे सहायक डा० वोस्त्रोकोफ भारतवर्ष पहुँचकर उन ग्रन्थों को देखना चाहते हैं। कृपया विशेषज्ञों की एक छोटी-सी कमेटी बना लीजिए, जिसमें इन ग्रन्थो के प्रकाशन पर विचार किया जा सके।" (१९३६)

डा० श्चेर्बात्स्की के प्रयत्नों से राहुलजी १९३७ में सोवियत भूमि में निमन्त्रित होकर गये। यह उनकी द्वितीय सोवियत-यात्रा थी। इस बार उन्हें अपने स्वप्न की दुनियाँ में डेढ़ महीने तक रहने का मौका मिला। अतः अपने एक-एक मिनट के समय को उन्होंने इस देश की स्थिति का अध्ययन करने, देश-दर्शन करने तथा आचार्य श्चेर्बात्स्की से विचार-विमर्श करने और प्राच्य-विद्या संस्थान में प्रतिदिन कुछ घंटे काम करने में खर्च किया, बचे हुए समय में वे सोवियत सम्बन्धी पुस्तकों का पारायण करते। इस यात्रा में सोवियत संघ के साथ उनका सम्बन्ध केवल बौद्धिक ही न होकर खून के सम्बन्ध के रूप में भी परिणत हो गया। डा० श्चेर्बात्स्की की प्रकाण्ड विद्वत्ता का सम्मान करते हुए उन्होंने अपनी जीवन यात्रा के द्वितीय खण्ड में कई प्रतियाँ लिखीं, साथ ही रूस की इस द्वितीय यात्रा पर इसी पुस्तक में एक पूरा अध्याय (पृष्ठ ४४७-४७२) लिखा।

इसी यात्रा में पंडितजी ने तय किया कि सोवियत के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखनी होगी। वैसे यह खयाल उनके दिमाग में बहुत पहले से ही था, इसी लिए उन्होंने अपनी पुस्तक 'सोवियत भूमि' के लिए सामग्री जमा करनी शुरू कर दी। प्रसिद्ध विद्वान् डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त के अनुसार आधुनिक हिन्दी आलोचकों को उनके सृजनात्मक कृतिकारों ने समृद्ध किया। 'सोवियत भूमि' और 'नये भारत के नये नेता' के रचयिता राहुल सांकृत्यायन का नाम इसी संदर्भ में याद आता है। राहुलजी ने हिन्दी और उर्दू में अनेक लेखकों की मानवतावादी परम्परा को अपने निबन्धों से

उभारा है। यह सर्वविदित है कि लगभग एक सौ से अधिक ग्रन्थों में राहुलजी ने अक्तूबर-क्रान्ति और उससे प्रेरक विचारदर्शन का व्यापक प्रसार हिन्दी के पाठकवर्ग में किया।[१०] सोवियत संघ और भारत की मित्रता को अखण्ड बनाये रखने के लक्ष्य को लेकर ही उन्होंने 'सोवियत भूमि' और 'सोवियत मध्यएशिया' पुस्तक लिखी, जिसमें पहली पुस्तक का हिन्दी के पाठकों ने बहुत स्वागत किया था।

'सोवियत भूमि' पुस्तक को लिखने के लिए राहुलजी को कैसे प्रेरणा मिली, इसके बारे में इंगित करते हुए उन्होंने लिखा है दो कारणों से संसार में सोवियत भूमि का महत्वपूर्ण स्थान है। एक तो दुनिया के सभी श्रमिकों और दलित जातियों की वह आशा है। उसका अस्तित्व ही उन्हें आशा दिलाता है कि कभी वे भी स्वतंत्र हवा में साँस ले सकेंगे। दूसरी बात है, संसार की राजनीति में विशेषकर यूरोप और एशिया की राजनीति में उसका खास स्थान है। इन कारणों से दुनिया के लोग सोवियत के बारे में बहुत जानना चाहते हैं। हर साल हजारों पुस्तकें सोवियत पर दुनिया की भिन्न-भिन्न भाषाओं में निकल रही हैं, लेकिन तो भी पढ़नेवाली जनता की भूख शान्त नहीं होती।··· हिन्दी में भी कुछ पुस्तकें निकली हैं, किन्तु नवीनता की दृष्टि से ही वह बहुत पिछड़ी हुई नहीं है बल्कि उनकी सख्या और जानकारी भी अधिक नहीं है।[११]

'सोवियत भूमि' में लेखक ने वहाँ की भूमि और निवासियों का वर्णन करते हुए वह वहाँ की राजनीति, आर्थिक, सामाजिक जागृति का उल्लेख किया है। उसमें पचायती खेती, शिक्षा, संविधान और पार्लियामेण्ट, कला, धर्म और वैयक्तिक सम्पत्ति पर भी विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उस समय सोवियत क्रान्ति तथा सोवियत देश के सम्बन्ध में जितने भी साहित्य प्रकाशित हुए, उनमें राहुलजी का 'सोवियत भूमि' सबसे प्रमाणिक ग्रंथ था। क्योंकि लेखक ने इसे केवल सुनी हुई और पढ़ी हुई बातों के आधार पर नहीं लिखा, बल्कि अपने निजी अनुभवों के आधार पर उस महान देश का वास्तविक परिचय हिन्दी जगत को दिया।

१९४० में 'सोवियत भूमि' की प्रति डाक्टर श्चेर्बात्स्की को भी मिल गयी थी। उन्होंने प्रशंसा भरे शब्दों में राहुलजी को लिखा—'आखिर मैंने आपकी 'सोवियत भूमि' देखी, मुझे बड़ी खुशी हुई है। मैंने निहायत दिलचस्पी से उसे पढ़ा। आपकी किताब बहुत योग्यता के साथ लिखी गयी है। बहुत अच्छा होगा यदि रूसी में अनुवाद कर दिया जाय।'[१२]

---

१०. जनयुग, अक्तूबर-क्रान्ति अंक, ५ नवम्बर १९६७, नई दिल्ली।
११. सोवियत भूमि, प्रथम संस्करण (१९३८) की भूमिका द्रष्टव्य।
१२. मेरी जीवन यात्रा (२), पृ० ५५६

सोवियत की दूसरी यात्रा से लौटने के बाद (१९३७) राहुलजी तिब्बत की चौथी यात्रा पर गये। भारत लौटने पर उनके हृदय के एक कोने में दबी हुई आकांक्षा-राजनीति में कूद पड़ो—ने जोर मारा। रूस में मजदूरों किसानों की क्रान्ति इसलिए सफल हुई कि वहाँ बोल्शेविक पार्टी किसानों के संघर्ष का संचालन कर रही थी। इस बात का निर्णय २१ साल पहले ही हो गया था कि कौन सा पथ मेरा अपना पथ होगा सोवियत क्रान्ति की खबरों ने मुझे एक नयी दृष्टि दी थी। उसने ही मुझे आगे मार्क्सवादी बनाया और मैं साम्यवाद का प्रशासक बना।... .जिस वक्त मैं शिगर्चे (तिब्बत) में था ,उस बार मुझे 'जनता' का कोई अंक मिला था जिसमें मसानी का एक लेख था। लेख में सोवियत को बहुत बुरा-भला कहा गया था। सोवियत मेरे लिये साम्यवाद का साकार रूप था, सोवियत की बुराई करके जो अपने को साम्यवादी या समाजवादी कहे उसे मैं वंचक या बेवकूफ छोड़कर और कुछ नहीं समझ सकता था।१३

बोलशेविक क्रान्ति से प्रभावित राहुलजी अब भारत में सक्रिय राजनीति पर उतर आये और उसी का परिणाम था कि बिहार के किसान आन्दोलन (१९३९) के वे नेता बने। अमावरी सत्याग्रह में उन्होंने जमीन्दारो के लठैंन से अपना सिर फुड़वाया जिसकी ही चोट आगे जाकर उनके अन्तिम जीवन में स्मृतिशून्य हो जाने का कारण बनी। इसी सत्याग्रह के कारण पण्डितजी को ढाइ वर्ष की जेल की सजा भुगतनी पड़ी। किन्तु, यह जेल जीवन उनके साहित्यिक जीवन के लिये वरदान ही सिद्ध हुआ। हजारीबाग सेन्ट्रल जेल तथा देवली डिटेन्शन कैम्प में दो वर्ष के निवास के दौरान उन्होंने कितने ही महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे जिनमें 'वोल्गा से गगा', 'दर्शन दिग्दर्शन', 'मानव समाज', 'वैज्ञानिक भौतिकवाद', 'तुम्हारी क्षय' आदि पुस्तकें सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई, और जिन पर किसी न किसी रूप में सोवियत प्रेम का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उनका "जीने के लिए" उपन्यास तो और भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है।

उन दिनों द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ चुका था। हिटलर सोवियत के ऊपर आक्रमण करना चाहता था और निश्चित समय पर आक्रमण हो भी गया। महापण्डित अब चिन्तित रहने लगे। पहले तो सोवियत संघ के साथ उनका बौद्धिक सम्बन्ध ही था, किन्तु अब उसके साथ उनका खून का सम्बन्ध जुड़ चुका था। उनकी पत्नी और पुत्र लेनिनग्राद में बमवर्षा के समय वहीं थे। 'जिस वक्त लेनिनग्राद पर जबर्दस्त हवाई हमले हो रहे थे, उस वक्त मैं निराकार तौर से नहीं देख रहा था, वहाँ मुझे लोला (पत्नी) और ईगर (पुत्र) दिखाई पड़ते थे और उसी तरह की लाखों माताएँ और शिशु आँखों के सामने आते थे।''''''मेरे हृदय में आग धधक रही थी, मैं सोच रहा था, लेनिनग्राद की बमवर्षा के बारे में'।१४

१३. मेरी जीवन यात्रा (२), पृ० ४९५
१४. वही पृ० ५७३

१९४४ में पण्डितजी को फिर सोवियत संघ जाने का अवसर मिला। अबकी बार वे काफी अर्से के लिए जा रहे थे। वह युग स्तालिन का युग था। सोवियत संघ की विज्ञान परिषद् के प्राच्य विभाग में भारतीय दर्शन, साहित्य और संस्कृति के चुने हुए विश्वविख्यात विद्वान् खोज और लेखन कार्य कर रहे थे। वहाँ पर राहुलजी की नियुक्ति करके सोवियत संघ ने भारतीय संस्कृति के एक महान प्रतिनिधि का सत्कार किया था।

१९४४ के दिसम्बर में राहुलजी सोवियत संघ के लिए रवाना हुए। और कुल २५ मास व्यतीत किये। यद्यपि वे वहाँ लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्यविभाग में प्रोफेसर होकर गये थे, किन्तु अध्यापन के साथ ही उन्होंने इस देश की समस्याओं, संस्कृति, इतिहास, कला तथा भाषाओं का अध्ययन किया, फिर भी रूस के नशे में चूर नहीं थे। वे सोवियत रूस के बारे में बहुत उच्च विचार रखते थे, किन्तु उसके भीतर जो खामियाँ थीं, उनको भी नज़रअन्दाज नहीं करते थे। इसीका प्रमाण है उनकी पुस्तक "रूस में २५ मास"। इस पुस्तक में राहुलजी ने यत्र-तत्र रूसी नागरिकों में पायी जानेवाली स्वाभाविक कमजोरियों का विवरण भी दिया है। कहीं-कहीं खुले दिल से उनकी आलोचना भी की है। इस पुस्तक को पढ़कर भारत के कुछ साथियों ने थोड़ी आपत्ति भी की थी, किन्तु कहीं-कहीं शिकायत होने पर भी उक्त पुस्तक सोवियत देश और सोवियत नागरिकों के प्रति ऊँचे ख्यालात रखती है।

हाँ, तो पण्डित जी १९४४ में भारत से प्रस्थान कर ईरान के रास्ते सोवियत संघ जा रहे थे। मार्ग में पहले स्तालिनग्राद का वीर-नगर आया। इस समय उस भूमि को स्पर्श करते हुए महापण्डितजी के दिल में क्या भाव उभर रहे थे, उन्हीं के शब्दों में "स्तालिनग्राद की अजेय भूमि पर पैर रखकर यह कैसे हो सकता था कि मैं कल्पना जगत में न चला जाऊँ। सोवियत भूमि एक ऐसी भूमि है जिसके बारे में दुनिया में दो ही पक्ष है—या तो उसके समर्थक या प्रशंसक होवें या उसके कट्टर शत्रु। मध्य का रास्ता कोई अत्यन्त मूढ़ ही पकड़ सकता है। मैं सदा सोवियत का प्रशंसक रहा हूँ, बल्कि कह सकता हूँ कि जिस वक्त घोर निद्रा के बाद अभी मुझे जरा ही जरा अपनी राजनैतिक आँख खोलने का अवसर मिला, उसी समय मुझे विरोधियों के घनघोर प्रचार के भीतर रूसी-क्रान्ति की खबरें सुनाई पड़ीं, जिन्होंने मेरे दिल में नये प्रकाश को देकर इस भूमि के प्रति इतना आकर्षण पैदा कर दिया, या कहिये दिल को इतना छीन लिया कि मुझे इस जबर्दस्ती का कभी अफसोस नहीं हुआ। मैं वर्षों उस भूमि में रहा हूँ, वहाँ के लोगों और सरकार को बहुत नज़दीक से जानता हूँ। गुणों को जानता हूँ, साथ-साथ उनके दोषों से भी अपरिचित नहीं हूँ। लेकिन मैंने उन दोषों का 'पाया' कभी भारी नहीं पाया। सोवियत भूमि के प्रति जो आशाएँ मानवता के लिए मैंने बाँधी, उसमें किसी तरह की बाधा नहीं हुई। इतिहास मानता है और

सदा माना जायेगा कि मानवता की प्रगति में एक सबसे बड़ी बाधक शक्ति हिटलरी फासिज्म के रूप में पैदा हुई थी, उसको नष्ट करने का सबसे अधिक श्रेय सोवियत जनता को है। आज (१९५१) छः वर्ष बाद भी मानवता की प्रगति के रास्ते में फिर जबर्दस्त बाधाएँ डाली जा रही हैं। लेकिन साथ ही मानवता बहुत आगे बढ़ चुकी है, बहुत सबल हो चुकी है। उस समय जर्मन पराजय के बाद स्तालिनग्राद में घूमते हुए मेरे मन में तरह-तरह की कल्पनाएँ आयी थीं।'१५

२५ महीने के आवास-काल में राहुलजी अध्यापन के अतिरिक्त सोवियत मध्य एशिया पर विशाल ग्रंथ लिखने के लिए सामग्री जुटाने और उनके नोट्स तैयार करने में भी व्यस्त रहे। उस समय के ही गहन अध्ययन का परिणाम १३ वर्ष बाद "मध्य एशिया" के इतिहास दो खण्डों के रूप में कागज पर उतरा। इस ग्रंथ के प्रणयन का इतिहास एक अलग ही लेख का विषय है, किन्तु यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि यह ग्रंथ हिन्दी ही नहीं, बल्कि फ्रेंच, जर्मन, रूसी और अंग्रेज़ी भाषा के इस विषय के ग्रंथों मे अकेला है, क्योंकि अन्य भाषाओं में मध्यएशिया के अलग-अलग काल के इतिहास पर अलग-अलग ग्रंथ हैं, किन्तु राहुलजी ने प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के इतिहास का विशद् वर्णन प्रस्तुत किया है।

राजनीतिक विचारों में वामपंथ के समर्थक होने पर भी राहुलजी भारतीयता के प्रति गहन आस्था सदैव रखते थे, क्योंकि जिस धरती, मिट्टी और पंचतत्व में से उनका निर्माण हुआ, उसके प्रति, उस भारत के प्रति उनकी तार्किक और प्रखरोज्ज्वल महर्षियों की भाँति निष्ठा थी। देश के प्रति वफादारी का सन्देश ही उनकी साम्यवादी विचारधारा का मूल था। इसीलिए अपनी मातृभूमि भारत के प्रति प्रेम ही नहीं, बल्कि उनका अनन्त मोह था। उनके दिल में भारत की गरीब जनता के लिए असीम वेदना थी। भारत के लिए ही वे अपना जीवन सौंप देना चाहते थे। तीसरी सोवियत यात्रा से लौटने का प्रमुख कारण था अपनी मातृभूमि भारत, जो सदियों की गुलामी की जंजीर से मुक्त हो गयी थी, उसकी पवित्र और स्वाधीन भूमि का स्पर्श करने और वहाँ की मिट्टी में समा जाने की इच्छा। अतः स्वाधीनता समारोह के दो दिन बाद १७ अगस्त १९४७ के दिन स्वाधीन भारत के बम्बई महानगर में उन्होंने पैर रखा। उसी वर्ष वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए। हिन्दी के लिए उन्होंने जो विचार व्यक्त किए, वह उनकी पार्टी के लिए मान्य नहीं थे, अतः अपनी प्रिय पार्टी से वे अलग हो गये, यद्यपि उन्होंने १९५५ में फिर पार्टी की सदस्यता में अपना नाम लिखा लिया, किन्तु बीच के कुछ वर्ष में सदस्य न रहने पर भी अहर्निशि वे अपनी पार्टी और सोवियत देश की समृद्धि की कामना करते रहे।

---

१५. रूस में २५ मास (द्वितीय संस्करण 'मेरी जीवन-यात्रा', भाग ३) पृष्ठ ४२-४३

इन्हीं कुछ वर्षों में राहुलजी ने सोवियत जीवन पर खूब कलम चलायी। ताजिक भाषा के प्रेमचन्द सदरुद्दीन ऐनी के कई उपन्यासों का मूल ताजिक से हिन्दी में अनुवाद किया, जिनके नाम हैं :—'दाखुन्दा', जो दास थे, 'अनाथ', 'अदीना', 'सूदखोर की मौत' आदि इन ग्रन्थों का हिन्दी-जगत ने भी बड़ा स्वागत किया। इसके बाद ही उन्होंने सर्वहारा वर्ग के त्राता महान लेनिन और स्तालिन की विशाल और प्रामाणिक जीवनियाँ लिखीं। पुस्तकों के अतिरिक्त भी उन्होंने सोवियत-भारत-मैत्री सम्बन्धों पर प्रकाश डालनेवाले अनेक लेख लिखे। इतना ही नहीं, उन्होंने रूसी भाषा का अध्ययन करने पर उसमें संस्कृत के साथ अनेक साम्य देखा। रूसी भाषा में पाये जाने वाले संस्कृत से मिलते-जुलते अनेक शब्दों का संग्रह कर उन्होंने 'रूसी भाषा और भारत' शीर्षक से एक पुस्तिका लिखी। उनकी इस पुस्तिका के कारण ही बहुत से लोगों को यह ज्ञात हुआ कि संस्कृत भाषा और व्याकरण का थोड़ा भी ज्ञान रखने वालों के लिए रूसी भाषा आसान है।

ऊपर हमने संक्षेप में ही महापण्डित जी के सोवियत संघ के प्रति अनुराग का ब्यौरा दिया है। विस्तार में जाने पर यह लेख काफी बड़ा हो जाता।

राहुलजी ने रूस की चौथी यात्रा भी की, लेकिन बेहोशी में। यदि होश में होते और कुछ दिन और उन्हें जीवन मिला होता तो निस्सन्देह सोवियत पर और अच्छी और विशाल पुस्तक लिखते।

राहुलजी के कृतित्व का स्मरण करते हुए श्री अमृतरायजी ने लिखा था—'समाजवादी विचार-धारा को, सोवियत रूस के सन्देश को, किसान-मजदूर इन्कलाब के सन्देश को, राजनीति के पेचीदा मसलों को आसान बनाकर सरल से सरल भाषा में विशाल जनता तक पहुँचाने मे अकेले राहुल ने जितना काम किया है, उतना सारे कम्युनिस्ट लेखकों ने मिलकर भी नहीं किया। .. राहुल का साहित्य पढ़कर देश के हजारों आदमी कम्यूनिज्म और सोवियत रूस की ओर झुके हैं .. ।'[१६]

राहुलजी की, अपने जीवन-काल में ही, बड़ी इच्छा और आशा थी कि उनकी सर्वाधिक लोक-प्रिय कृति 'वोल्गा से गंगा' का रूसी भाषा मे अनुवाद हो। इस पुस्तक के भारत की अन्य भाषाओं, बंगला, उड़िया, असमियाँ, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, सिन्धी के अतिरिक्त बर्मी, सिंहली और अंग्रेजी में भी अनुवाद हुए हैं। किन्तु लेखक की अन्तिम इच्छा और आशा उनके जीवन के साथ ही खतम हो गयी। भारत के किसी साथी ने भी उनके इस लोकप्रिय कृति-को रूसी अनुवाद के लिए नहीं सुझाया। उनका मन रखने के लिए उनकी एक छोटी-सी कृति 'विस्मृति के गर्भ में' का अनुवाद रूसी भाषा में 'व जाबितोइ स्त्राने' के नाम से १९६१ में प्रकाशित

१६. साहित्य में संयुक्त-मोर्चा (१९५१) पृष्ठ—१५२।

हुआ। जबकि अन्य भारतीय हिन्दी लेखकों की दर्जनों पुस्तकें रूसी भाषा में अनूदित हुईं और हो रही हैं।

महापण्डित राहुलजी के देहावसान पर भारत की राजधानी दिल्ली में जिन विभिन्न महानुभावों ने शोकोद्गार प्रकट किये, उनमें से भारत स्थित सोवियत के भूतपूर्व राजदूत श्री बेनेदिक्तोव महाशय भी थे। उन्होंने दिवंगत साहित्यकार का स्मरण करते हुए इन शब्दों में श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी—'वे सोवियत रूस और भारत के बीच मैत्री के एक शक्तिशाली सेतु थे। वे भारतीय संस्कृति और साहित्यक, किसी बौद्धपर्यटक की भाँति विश्व के कोने-कोने में प्रचार करने वाले एकमात्र भारतीय घुमक्कड़ थे, और भारत में रूसी क्रान्ति की जयगाथा गाने वाले तथा मार्क्सवाद को भारत के किसानों मजदूरों में फैलाने वाले साहित्यकारों में अगुवा थे।'

सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार की योजना राहुलजी के जमाने में नहीं बनी थी। १९६६ में जब प्रथम बार पुरस्कार वितरण समारोह हुआ, उस समय भी केवल महामहिम राजदूत बेनेदिक्तोव महाशय ने ही अपने भाषण में स्व० महापण्डित जी का स्मरण किया था। उन्होंने कहा—'पण्डित नेहरू और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे भारतीय चिन्तकों एवं भारती, वल्लथोल, निराला और सांकृत्यायन जैसे प्रख्यात लेखकों ने भारतीय जनता के समक्ष सोवियत देश के सम्बन्ध में सत्य का परिदर्शन कराया था।'[१७]

तब से हर साल नई दिल्ली में यह समारोह आयोजित होता आ रहा है: कितने ही भारतीय लेखक पुरस्कृत होते हैं। परन्तु उस विशाल भीड़ में कहीं भी कोई भी भारत-सोवियत मैत्री-सम्बन्ध के उस सूत्रकार का नाम नहीं लेता। लगता है कि राहुलजी का शोषित देश और सोवियत जनता के प्रति अनुराग लोगों की "विस्मृति के गर्भ" में चला जा रहा है।

हाल ही में मेरी नजर से एक पुस्तक गुजरी है। उसका नाम है 'इण्डिया एण्ड द सोवियत युनियन, ए सिम्पोजियम'।[१८] पुस्तक में भारत और सोवियत देश के मैत्री-सम्बन्ध के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक के अन्तिम अध्याय में इस सम्बन्ध को दृढ़ बनाने में योगदान करनेवाले भारतीय साहित्यकारों की चर्चा है। और उसीमें राहुलजी का नाम 'वोल्गा से गंगा' के साथ लिया गया है। क्या राहुलजी ने सोवियत देश के सम्बन्ध में केवल एक ही पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' लिखी? उनकी अन्य कृतियाँ क्या हुईं? राहुल-साहित्य के अधिकांश प्रबुद्ध पाठक महापण्डितजी को भारत-सोवियत मैत्री सूत्रकार मानते हैं; किन्तु उल्लिखित पुस्तक में राहुलजी के कृतित्व का उल्लेख भारतीय लेखकों की सूची की भीड़ में केवल नाम भर गिना कर ही किया गया है। खैर, इतना ही क्या कम है कि किसी ने पाँच ही शब्दों में सही, महापण्डितजी की याद तो करने का कष्ट किया?

●

---

१७. सोवियत समीक्षा, वर्ष १, संख्या ३ (१९ दिसम्बर, १९६६)

१८. 'इण्डिया एण्ड सोवियत यूनियन', वी. वी. बालाबुशेविच एवं विमला प्रसाद द्वारा सम्पादित।

हिन्दी त्रैमासिक विश्वभारती पत्रिका के सम्बन्ध में विवरण

फार्म चार—नियम संख्या आठ

१.	प्रकाशन का स्थान	शान्तिनिकेतन, वीरभूम।
२.	प्रकाशन की आवृत्ति	त्रैमासिक।
३-४.	मुद्रक तथा प्रकाशक का नाम	पीयूषकान्ति दास गुप्त के लिए रत्नाकर प्रेस, ११-ए, सैयदसाले लेन, कलकत्ता-७ द्वारा मुद्रित।
	राष्ट्रीयता	भारतीय।
	पता	शान्तिनिकेतन, जिला वीरभूम।
५.	संपादक का नाम	रामसिंह तोमर।
	राष्ट्रीयता	भारतीय।
	पता	शान्तिनिकेतन, जिला वीरभूम।
६.	मालिकों का नाम और पता	विश्वभारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल।

मैं पीयूषकान्ति दासगुप्त यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिए गए तथ्य मेरी जानकारी तथा विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

१२-२-७०

पीयूषकान्ति दास गुप्त